हिंदी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

मूल लेखक

आचार्य श्यामसुंदरदास

संकलनकार

नंददुलारे वाजपेयी, एम० ए०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९४९

पंचम संस्करण

मूल्य १

Printed and published by K. Mittra, at
The Indian Press, Limited, Allahabad

निवेदन

जब से आचार्य श्यामसुंदरदास का "हिंदी भाषा और साहित्य" ग्रंथ प्रकाशित हुआ, तभी से उसके एक संक्षिप्त संस्करण की आवश्यकता समझी जाने लगी थी, पर तब से अब तक उस संबंध का कोई क्रियात्मक उद्योग नहीं हो सका था। हाल में जब हिंदी 'विश्वकोश' के संपादक श्रीयुत नगेंद्रनाथ वसु महोदय ने अपने कोश का 'हिंदी-साहित्य' शब्द एक स्वतंत्र निबंध के रूप में मुझे लिखने की आज्ञा दी, तब मैं अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उनका आदेशपालन न कर सका। परंतु मेरे प्रस्ताव करने पर वसु महोदय ने उक्त 'हिंदी भाषा और साहित्य' ग्रंथ के साहित्य-खंड को, संक्षिप्त आकार में, अपने कोश में स्थान देना स्वीकार किया। मेरी धारणा है कि आचार्य श्यामसुंदरदास का उक्त ग्रंथ ही 'विश्वकोश' में संकलन योग्य था। यह पुस्तिका उसी निबंध का किंचित् परिवर्धित और संशोधित रूप है।

अब तक डाक्टर ग्रियर्सन से लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक के हिंदी-साहित्य के जो विवेचनात्मक इतिहास ग्रंथ लिखे गए हैं उनमें हिंदी का संकलित चित्र उतना ही देख पड़ता जितना भिन्न भिन्न काल के भिन्न भिन्न कवियों पर उनकी रायजनी देख पड़ती है। आचार्य श्याम सुंदरदास का उक्त ग्रंथ इस दिशा में सर्वप्रथम प्रवेश करने की चेष्टा रखता है। यह चेष्टा हिंदी के लिये मौलिक ही नहीं, इतनी महत्त्वपूर्ण भी है कि इसका परिचय साहित्य के महामान्य अन्वेषकों को ही नहीं

साधारण विद्यार्थियों को भी मिलना चाहिए। यही इस संक्षिप्त संस्करण की सार्थकता है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि इस संकलन-कार्य में मैं अनभ्यस्त हूँ और इस ओर मेरी रुचि भी नहीं, तथापि कई कारणों से उक्त मूल ग्रंथ से मेरी अतिशय प्रीति रही है और मैं ही उसे संक्षिप्त करने का अधिकारी भी था। इसलिये त्रुटियों की चिंता न कर, मैं पुस्तक के साथ इस रूप में अपना नाम संयुक्त करने में प्रसन्न हो रहा हूँ।

प्रयाग
५-१२-११

नंददुलारे वाजपेयी

—

विभाग-सूची

हिंदी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

(१) आमुख

उत्तर भारत के विस्तृत और विशाल भूखंड में विगत हजार वर्षों से प्रचलित हिंदी भाषा का साहित्य भारत की जातीय और राष्ट्रीय भावनाओं, आकांक्षाओं और स्थितियों को जानने का अद्वितीय साधन है। अपनी विशालता, विस्तार और व्यापकता के कारण ही नहीं, भारत की सभ्यता और संस्कृति-परंपरा की रक्षा करने के कारण भी हिंदी साहित्य की महिमा और महत्त्व अपार है। मानव-हृदय के 'सत्यं शिवं सुंदरं' की अभिव्यंजना के लिये और भारत के जातीय जीवन की अभिव्यक्ति के लिये हिंदी-साहित्य के प्रयास स्तुत्य और श्लाघनीय हैं। भारत की प्राचीन आर्य-सभ्यता और आर्यसंस्कृति, हिंदी-साहित्य के नवीन वस्त्राभूषण धारण कर, नवीन रंग रूप में विकसित हुई और फूली फली है। अपने परिवर्तनशील और प्रगतिशील जीवन का प्रतिबिंब देखकर आज भी संपूर्ण उत्तरापथ का विशाल जनसमूह हिंदी-साहित्य का श्रेय स्वीकार करता है।

भारतीय साहित्य की मूल रागिणी समूह-मुखी है, इस तथ्य को सदैव याद रखना चाहिए। हिंदी-साहित्य भी इसी परंपरा का पालन करता है। देश-काल की स्थिति के अनुरूप जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिंब हिंदी में आदिकाल से ही मिलता है। समूह की ध्वनि जब जब बदली है, साहित्य में भी परिवर्तन हुआ है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य को प्रारंभ से अब तक चार कालों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) वीरगाथा-काल सं० १०५० से १४०० तक।
(२) भक्ति-काल सं० १४०० से १७ तक।
(३) रीति-काल सं १७०० से १८५ तक।
(४) गद्य-काल सं० १८५० से अब तक।

निश्चय ही ये तिथियाँ ज्योतिष अथवा गणित की तिथियों की तरह नितांत अकाट्य नहीं हैं, फिर भी हिंदी-साहित्य के सामान्य विवेचन में ये सामान्यतः स्वीकार की जा सकती हैं।

---

(२) वीरगाथा-काल

यह युग घोर राजनीतिक हलचल तथा अशांति का था। भारत के सिंध आदि पश्चिमीय प्रदेशों पर अरबों के आक्रमण तो बहुत पहले से प्रारंभ हो चुके थे और एक विस्तृत भू भाग पर उनका आधिपत्य भी बहुत कुछ स्थायी रीति से प्रतिष्ठित हो चुका था, परंतु पीछे समस्त उत्तरापथ विदेशियों से पादाक्रांत होने लगा और मुसलमानों की विजय वैजयन्ती लाहौर, देहली, मुलतान तथा अजमेर आदि में फहराने लगी। महमूद गजनवी के आक्रमणों का यही युग था और शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भी इसी काल में भारत-विजय के लिये प्रयत्न किए थे। पहले तो इस देश पर विदेशियों के आक्रमण, स्थायी अधिकार प्राप्त करके शासन करने के उद्देश्य से नहीं, केवल यहाँ की अतुल संपत्ति लूट ले जाने की इच्छा से हुआ करते थे। महमूद गजनवी ने इसी आशय से सत्रह बार चढ़ाई की थी और वह देश के विभिन्न स्थानों से विपुल संपत्ति ले गया था। परंतु कुछ समय के उपरांत आक्रमणकारियों के हृदय में परिवर्तन हुआ, वे कुछ तो धर्मप्रचार की इच्छा से और कुछ यहाँ की सुख समृद्धिशाली अवस्था तथा विपुल धन धान्य से आकृष्ट होकर इस देश पर अधिकार जमाने की धुन में लगे। यहाँ के राजपूतों ने उनका साथ लोहा लिया और वे उनके प्रयत्नों को निष्फल करके उन्हें बहुत समय तक पराजित करते रहे, जिससे उनके पैर पहले तो जम नहीं सके पर धीरे धीरे राजपूत-शक्ति अंतःकलह से क्षीण होती गई और अंत में उस मुस्लिम-शक्ति के प्रबल वेग के आगे सिर झुकाना पड़ा।

राजनीतिक हलचल के इस भीषण युग में देश की सामाजिक स्थिति कितनी शोचनीय हो गई थी, इस पर कम लोग ध्यान देते हैं। जब से

गुप्त-साम्राज्य का अंत हुआ था और देश अनेक छोटे छोटे टुकड़ों में बँट गया था, तब से हर्षवर्द्धन के अस्थायी राजत्व-काल के अतिरिक्त कई शताब्दियों तक सारे देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रबन्ध हुआ ही नहीं। उसके गृह-कलह की निरंतर वृद्धि होती गई और विक्रम की नवीं, दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दियों में यह भीषण दोष अपनी परम सीमा तक पहुँच गया। स्वयंवरों में अपने अपने शौर्य का प्रदर्शन करना एक साधारण बात थी, कभी कभी तो अपना बल दिखलाने या मन बहलाने के लिये ही अकारण लड़ाई छेड़ दी जाती थी। विप्लवों और युद्धों आदि का यह अनंत क्रम समाज के लिये बहुत ही हानिकर सिद्ध हुआ। जो जीवन किसी समय ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत तथा विविध कलाओं का आविर्भावक था, वह अविद्यांधकार में पड़कर अनेक अंधविश्वासों का केंद्र बन गया। जो लोग आत्मघ्न विदेशियों के साम्राज्य में सुख-समृद्धिपूर्वक समय बिताते थे, वे अपनी रक्षा तक कर सकने में असमर्थ हो गए। सोमनाथ पर मुसलमानों के आक्रमण का प्रतिकार न कर मंदिर में छिपे रहना और अनंगपाल के हाथी के संभ्रमवश पीछे घूम पड़ने पर सारी सेना का भाग खड़ा होना हिंदुओं के तत्कालीन चरम पतन का सूचक है। यद्यपि अन्य स्थानों में प्रबल वीरता प्रदर्शित करने के अनेक ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, परंतु फिर भी जो समाज अपना भला-बुरा तक पहचानने में असमर्थ हो जाता है और जो अपने विलासी तथा अदूरदर्शी शासकों के ही हाथों का पुतला बन जाता है उसका कल्याण कब तक हो सकता है! फल यह हुआ कि साधारण जनता तो तत्कालीन नृपतियों को आत्मार्पण करती गई और अपरिणामदर्शी नृपतियों ने घर में ही वैर तथा फूट के बीज बोए, जिनका कटु फल देश तथा जाति को अब तक भोगना पड़ रहा है।

देश के जिस भू-भाग में जिस समय ऐसी अशांति तथा अंधकार का साम्राज्य छाया हुआ था, उसी भू-भाग में लगभग उसी समय

अपभ्रंश भाषाओं से उत्पन्न होकर हिंदी-साहित्य अपना शैशव-काल व्यतीत कर रहा था। हिंदी की इस शैशवावस्था में देश की जैसी स्थिति थी, उसी के अनुरूप उसका साहित्य भी विकसित हुआ। भीषण हलचल तथा घोर अशांति के उस युग में वीरगाथाओं की ही रचना संभव थी, साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति उस काल में हो ही नहीं सकती थी। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश लड़ाइयों में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान रूप में व्याप्त रहता है, उस काल में वीरोल्लासिनी कविताओं की ही गूँज दश भर में सुनाई पड़ती है। उस समय एक तो अन्य प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं और जो थोड़ी बहुत होती भी हैं वे, सुरक्षित न रह सकने के कारण शीघ्र ही काल-कवलित हो जाती हैं। हिंदी के आदि युग में जो केवल वीररस की कविताएँ मिलती हैं, उसका यही कारण है।

यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि तत्कालीन कविता की रचना राजाओं के आश्रय में ही हुई, अतः उसमें राजाश्रित कविता की प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं। यद्यपि उस काल के राजाओं की नीति देश के लिये हितकर नहीं थी और उनके पारस्परिक विद्वेष तथा संघर्ष से जो अग्नि प्रज्वलित हुई, उसने देश की स्वतंत्रता को भस्म करके ही दम लिया, तथापि राजाश्रित कविया की वाणी अपने स्वामियों के कीर्ति-कथन में कभी कुंठित नहीं हुई। उनका यह काम बराबर होता रहा। सारांश यह है कि उस समय के कवि प्रायः राजाओं को प्रसन्न रखने और उनके कृत्यों का अंध-समर्थन करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझ बैठे थे। देश की स्थिति और भविष्य की ओर उनका ध्यान ही न था। जिस समय कवियों की ऐसी हीन अवस्था हो जाती है और जिस समय कविता में उच्च आदर्शों का समावेश नहीं होता, उस समय देश और जाति की ऐसी दुर्दशा अवश्यंभावी हो जाती है। हिंदी के आदि-युग में

अधिकांश ऐसे ही कवि हुए जिन्हें समाज को संघटित तथा सुव्यवस्थित कर उसे विदेशीय आक्रमणों से रक्षा करने में समर्थ बनाने की उतनी चिंता नहीं थी जितनी अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थ साधन करने की थी। यही कारण है कि जयचंद जैसे नृपतियों की काल्पनिक वीरगाथाएँ रचनेवाले कवि तो हुए, पर सच्चे वीरों की पवित्र गाथाएँ उस काल में लिखी ही नहीं गई और यदि लिखी भी गई हों तो अब उनका पता नहीं है।

इन राजाश्रित कवियों की रचनाओं में न तो इतिहास-सम्मत घटनाओं का ही अधिक उल्लेख मिलता है और न उच्च कोटि के कवित्व का ही उन्मेष पाया जाता है। एक तो उस युग की रचनाएँ अब अपनी मूल रूप में मिलती ही नहीं और जो कुछ मिलती भी हैं, उनमें ऐतिहासिक तथ्यों से बहुत कुछ विभिन्नता पाई जाती है। जो कवि अपने अधिपतियों का प्रशंसा करने के लिये ही रचनाएँ करेगा उसे बहुत कुछ इतिवृत्त की अवहेलना करनी पड़ेगी, साथ ही उसकी कृतियों में हृदय के उच्च भावों का अभाव होने के कारण उच्च कोटि के कवित्व का स्फुरण न हो सकेगा। जहाँ केवल प्रशंसा करना ही उद्देश्य रह जाता है, वहाँ इतिहास की ओर से दृष्टि हटा लेनी पड़ती है और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को एक संकीर्ण क्षेत्र में आबद्ध करना पड़ता है। इसी संकीर्ण क्षेत्र में बहती बहती काव्य धारा परंपरागत हो गई जिससे भाट चारणों की जीविका तो चलती रही, पर कविता के उच्च लक्ष्य का विस्मरण हो गया। पुरानी रचनाओं में मान बहुत परिवर्तन न करके और उसे नवीन रूप में सुनाकर राज-सम्मान पाने की जो कुप्रथा चारणों में चली उससे कविता तो सहज भ्रष्ट हो ही गई, साथ ही अनेक ऐतिहासिक विपर्ययों का सार भी हो गया। ग्रंथों में क्षेपक इतने अधिक बढ़ चले कि वे मूल से भी अधिक हो गए और मूल का पता लगाना भी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया। यदि इस कुप्रथा का अंत हिंदी के भक्त कवियों की कृपा से न हो गया होता और कविता का

संपर्क गाथाभय से हटकर जन-समू की हार्दिक भूमि से न हो जाता तो अब तक हिंदी कविता की कितनी प्रगति हो गई होती इसका सहज में अनुमान किया जा सकता है। इस युग के कवियों की रचनाओं में कहीं-कहीं सच्चे राष्ट्रीय भावों की भी झलक देख पड़ती है। देशानुराग से प्रेरित होकर देश के शत्रुओं का सामना करने के लिये वे अपने आश्रयदाताओं को केवल अपनी वाणी द्वारा प्रोत्साहित ही नहीं करते थे, वरन् समय पड़ने पर स्वयं हाथ में तलवार लेकर मैदान में कूद पड़ते थे और इस प्रकार तलवार तथा कलम दोनों को चलाने की अपनी कुशलता का परिचय देते थे। कभी कभी ये कवि देश के अंतर्विग्रह में सहायक होकर वाणी का दुरुपयोग भी करते थे, पर यह उस काल की एक ऐसी व्यापक विशेषता थी कि कविगण उससे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते थे।

उस युग के कवियों में उच्च कोटि के कवित्व की झलक भी मिलती है। यद्यपि जीवन के अनेक अंगों की व्यापक तथा गंभीर व्याख्या तत्कालीन कविता में नहीं पाई जाती पर उन्होंने अपनी कृतियों में वीरों के चरित्र चित्रण में नई नई रमणीय उद्भावनाओं तथा अनेक कोमल सूक्तियों का समावेश किया है। इस काल के कवियों का युद्ध वर्णन इतना मर्मस्पर्शी तथा सजीव हुआ है कि उनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रास-गर्भित किंतु निर्जीव रचनाएँ नकल सी जान पड़ती हैं।

हिंदी में वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ तो प्रबंध-काव्यों के रूप में और कुछ वीरगीतों के रूप में। प्रबंध के रूप में वीर-कविता करने की प्रणाली प्रायः सभी साहित्यों में चिरकाल से चली आ रही है।

पृथ्वीराजरासो—पृथ्वीराजरासो समस्त वीरगाथा-युग की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस एक ग्रंथ में मिलती है उतनी दूसरे अनेक ग्रंथों में नहीं मिलती। छंदों का जितना विस्तार तथा भाषा का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें

मिलता है, अन्यत्र उसका आभास भी नहीं दिखाई देता। पूरी जीवन गाथा होने के कारण इसमें वीरगीतों की-सी संकीर्णता तथा वर्णना की एकरूपता नहीं आने पाई है, वरन् नवीनता-समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है। यद्यपि 'रामचरित-मानस' अथवा 'पद्मावत' की भाँति इसमें भावों की गहनता तथा अभिनव कल्पनाओं की मधुरता उतनी अधिक नहीं है, परंतु इस ग्रंथ में वीर भावों की बड़ी सुंदर अभिव्यक्ति हुई है और कहीं कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी उक्तियों से इसमें अपूर्व काव्य-चमत्कार आ गया है। रसात्मकता के विचार से इसकी गणना हिंदी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथों में हो सकती है। भाषा की प्राचीनता के कारण यह ग्रंथ अब साधारण जनता के लिये दुरूह हो गया है, अन्यथा राष्ट्रोत्थान के इस युग में पृथ्वीराज रासो की उपयोगिता बहुत अधिक हो सकती थी।

वीरगाथा-काल के प्रबंध-काव्यों के रचयिताओं में भट्ट केदार का जिसने जयचंद-प्रकाश, मधुकर का जिसने जयमयंक जसचंद्रिका, सारंगधर का जिसने हम्मीर-काव्य और नल्लसिंह का जिसने विजयपाल रासो लिखा है, उल्लेख मिलता है, जिससे यह प्रकट होता है कि इस प्रकार के काव्यों की परंपरा बहुत दिनों तक चली थी। पर राजपूताने में इस प्रकार की प्राचीन पुस्तकों की खोज न होने तथा अनेक ग्रंथों के उनके मालिकों के मोह, अविवेक अथवा असुरक्षितता के कारण अँधेरी कोठरियों में बंद पड़े रहने के कारण इस परंपरा का पूरा पूरा इतिहास उपस्थित करने की सामग्री का सर्वथा अभाव हो रहा है।

आल्हखंड—कुछ विद्वानों ने इसे चंद बरदाई-कृत पृथ्वीराजरासो ग्रंथ का ही एक खंड बतलाया है और इस दृष्टि से इसे स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में ग्रहण नहीं किया है, परंतु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। पृथ्वीराजरासो तथा आल्हखंड में सबसे प्रधान भेद यह है कि पहला ग्रंथ दिल्ली के अधिपति पृथ्वीराज के दरबारी कवि का लिखा होने के कारण उसके यशों का बहुत अधिक उत्कर्ष प्रदान

करता है परंतु आल्हखंड में यह बात नहीं पाई जाती। इस वीरगीत में न तो पृथ्वीराज के चरित्र की प्रधानता है और न उसकी वीर कृतियों की प्रशंसा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह ग्रंथ प्राचीन रूप में जगनिक का लिखा हुआ था जो महोबे के चंदेल शासक परमाल के दरबार में रहता था। यह चंदेल-शासक पृथ्वीराज का समकालीन और कन्नौज के अधिपति जयचंद का मित्र तथा सामंत था।

इस पुस्तक में प्रधानतः आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) नामक वीर क्षत्रियों तथा साधारणतः उनके अनेक भाइयों और कुटुम्बियों की वीरगाथाएँ हैं। आल्हा और ऊदल बनाफर शाखा के क्षत्रियों के वंशज थे और महोबे के तत्कालीन चंदेल अधिपति परमाल के सामंतों तथा सेनापतियों में थे। यद्यपि परमाल कायर तथा भीरु शासक था परंतु उसकी भी महत्ता अपने वीर सामंतों की सहायता से कई बार पृथ्वीराज तक के आक्रमणों को विफल करने में समर्थ हुई थी। आल्हा, ऊदल, लाखन, मलखे आदि वीर आत्माओं का आतंक तत्कालीन छोटे छोटे राज्यों पर तो था ही, कन्नौज जैसे विस्तृत साम्राज्य का अधिपति जयचंद भी उनकी वीरता के आगे सिर झुकाता था। आल्हखंड के वीरगीतों में इन्हीं वीर आत्माओं के अनेक विवाहों तथा बावन लड़ाइयों का वर्णन है। उस समय की कुछ ऐसी स्थिति हो गई थी कि प्रत्येक विवाह में वीर क्षत्रियों के लिये अपनी वीरता का प्रदर्शन करना आवश्यक होता था और कन्यापक्षवाला को पराजित करने पर ही उन्हें कन्या से विवाह करने का अधिकार मिलता था। यद्यपि इस पुस्तक में युद्धों का जितना विशाल रूप प्रदर्शित किया गया है, उसमें बहुत कुछ अतिशयोक्ति भी है, परंतु यह निश्चित है कि महोबे के इन वीर सर्दारों ने तत्परतापूर्वक अनेक युद्ध किए थे और उनमें विजयी होकर उन्होंने राजकन्या का अपहरण भी किया था। पुस्तक के अंत में अत्यंत करुण दृश्य उपस्थित

होता है। सब वीर बनाफर युद्ध में मारे जाते हैं, उनकी रानियाँ सती होने के लिये अग्नि की शरण लेती हैं और बचे हुए केवल दो व्यक्ति आल्हा और उसका पुत्र ईंदल गृह-परित्याग कर किसी कजरी बन में जा बसते हैं। इस कजरी बन का ठीक ठाक पता अभी तक नहीं लग सका है। यह कोई कवि-कल्पित स्थान जान पड़ता है जिससे निर्जनता तथा अंधकार की व्यंजना होती है।

इस गीतरीत में अनेक युद्धों का वर्णन बहुत कुछ एक ही प्रकार से हुआ है, साथ ही इसमें अनेक भौगोलिक अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं परंतु साधारण पाठकों के लिये इसके वर्णनों में बड़ा आकर्षण है। यद्यपि इसमें साहित्यिक गुणों की बहुत कुछ न्यूनता पाई जाती है, पर उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में इसका प्रचार है। इसमें वर्णित युद्धों की भयानकता यद्यपि बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ाकर अंकित की गई है, परंतु युद्ध अवश्य हुए थे और उनमें वीर बनाफरों को अनेक बार विजय भी हुई थी। यद्यपि जगनिक-कृत आल्ह-खंड अब अपने पूर्व रूप में नहीं मिलता और उसके आधुनिक संस्करणों में भाषा की नवीनता तथा घटनाओं का प्रक्षेप स्पष्ट देख पड़ता है, फिर भी यह एक महत्वपूर्ण रचना है।

अमीर खुसरो—*जिस प्रकार चंद बरदाई आदि वीरगाथाकारों* की रचना में तत्कालीन हिंदू मनोवृत्ति का परिचय मिलता है और युद्धों के राजदरबारी की अवस्था का अभिज्ञान होता है उसी प्रकार अमीर खुसरो की रचनाओं में हम मुसलमानों के उन मनोभावों की झलक पाते हैं जो उनके इस देश में आकर बस जाने के उपरांत यहाँ की परिस्थिति से प्रभावान्वित होकर तथा यहाँ की आवश्यकताओं का ध्यान रखकर उत्पन्न हुए थे। इस विचार से यद्यपि हम खुसरो की कृतियों में साधारण जनता की चित्तवृत्तियों की छाप नहीं पाते, परंतु तत्कालीन स्थिति से परिचित होने के लिये हमें उनकी उपयोगिता अवश्य स्वीकृत करनी पड़ेगी। भाषा के विकास की दृष्टि से खुसरो

की मसनवियों तथा पहेलियों का और भी अधिक महत्व है। खुसरो द्वारा प्रयुक्त खड़ी बोली के शुद्ध भारतीय स्वरूप में अरब और फारस के शब्दों की भरमार करके आजकल के कृत्रिम उर्दू बोलने वाले जब आधुनिक हिंदी को उर्दू से उत्पन्न बतलाने लगते हैं, तब उनके भ्रमनिवारणार्थ खुसरो की रचनाओं का भी सहारा लेना पड़ता है यह तो है ही, भारतीय भाषा शास्त्र के एक अंग की पूर्ति के लिये उपकरण बनकर सहायता देने में भी उनकी कृतियों ने कम काम नहीं किया है।

परंतु खुसरो की कविता का वास्तविक रहस्य समझने के लिये हमको तत्कालीन कलाओं पर भी ध्यान देना होगा। उनकी कुछ रचनाएँ फारसी में और कुछ हिंदी में पाई जाती हैं और कुछ रचनाओं में मिश्रित भाषा का प्रयोग दिखाई देता है। जब हम उस समय की वास्तु-कला और संगीत-कला पर ध्यान देते हैं तब उनमें हिंदू और मुसलमान आदर्शों का मेल पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है, कि उस समय हिंदू-मुसलमानों में परस्पर बहुत कुछ आदान-प्रदान प्रारंभ हो गया था। यद्यपि साहित्य में हिंदी के वीरगाथा-काल तक अपनी पूर्व परंपरा का परित्याग नहीं पाया जाता, परंतु यहाँ की भाषा में बहुत कुछ विदेशीय शब्द आने लगे थे। अमीर खुसरो ने अपना "खालिकबारी" ग्रंथ तैयार करके भाषा के आदान-प्रदान में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई थी। उसके कुछ काल उपरांत साहित्य में भावों का आदान-प्रदान भी आरंभ हुआ। इस प्रकार हम खुसरो की कविता में युग-प्रवर्तन का बहुत कुछ पूर्वाभास पाते हैं।

होता है। जब वीर बनाफर युद्ध में मारे जाते हैं, उनकी रानियाँ सती होने के लिए अग्नि की शरण लेती हैं और बचे हुए केवल दो व्यक्ति आल्हा और उसका पुत्र ईंदल गृह-परित्याग कर किसी कजरी वन में जा बसते हैं। इस कजरी वन का ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लग सका है। यह कोई कवि-कल्पित स्थान जान पड़ता है जिससे निर्जनता तथा अंधकार की व्यंजना होती है।

इस वीरगीत में अनेक युद्धों का वर्णन बहुत कुछ एक ही प्रकार से हुआ है साथ ही इसमें अनेक भौगोलिक अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं परंतु साधारण पाठकों के लिये इसके वर्णनों में बड़ा आकर्षण है। यद्यपि इसमें साहित्यिक गुणों की बहुत कुछ न्यूनता पाई जाती है पर उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में इसका प्रचार है। इसमें वर्णित युद्धों की भयानकता यद्यपि बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ाकर अंकित की गई है, परंतु युद्ध अवश्य हुए थे और उनमें वीर बनाफरों को अनेक बार विजय भी हुई थी। यद्यपि जगनिक-कृत आल्ह-खंड अब अपने पूर्व रूप में नहीं मिलता और उसके आधुनिक संस्करणों में भाषा की नवीनता तथा घटनाओं का प्रक्षेप प्रत्यक्ष देख पड़ता है फिर भी यह एक महत्वपूर्ण रचना है।

अमीर खुसरो—जिस प्रकार चंद बरदाई आदि वीरगाथाकारों की रचना में तत्कालीन हिंदू मनोवृत्ति का परिचय मिलता है और हिंदुओं के राजदरबारों की अवस्था का अभिज्ञान होता है उसी प्रकार अमीर खुसरो की रचनाओं में हम मुसलमानों के उन मनोभावों की झलक पाते हैं जो उनके इस देश में आकर बस जाने के उपरांत यहाँ की परिस्थिति से प्रभावान्वित होकर तथा यहाँ की आवश्यकताओं का ध्यान रखकर उत्पन्न हुए थे। इस विचार से यद्यपि हम खुसरो की कृतियों में साधारण जनता की चित्तवृत्तियों की छाप नहीं पाते, परंतु तत्कालीन स्थिति से परिचित होने के लिये हमें उनकी उपयोगिता अवश्य स्वीकृत करनी पड़ेगी। भाषा के विकास की दृष्टि से खुसरो

की मसनवियों तथा पहेलियों का और भी अधिक महत्व है। खुसरो द्वारा प्रयुक्त लाई। बोलो के शुद्ध भारतीय स्वरूप में अरब और फारस के शब्दों की भरमार करके आजकल के कृत्रिम उर्दू बोलने वाले जब आधुनिक हिंदी का उर्दू से उत्पन्न बतलाने लगते हैं, तब उनके भ्रमनिवारणार्थ खुसरो की रचनाओं का जो सहारा लेना पड़ता है वह तो है ही, भारतीय भाषा-शास्त्र के एक अंग की पूर्ति के लिये उपकरण बनकर सहायता देने में भी उनकी कृतियों ने कम काम नहीं किया है।

परंतु खुसरो की कविता का वास्तविक रहस्य समझने के लिये हमको तत्कालीन कलाओं पर भी ध्यान देना होगा। उनकी कुछ रचनाएँ फारसी में और कुछ हिंदी में पाई जाती हैं और कुछ रचनाओं में मिश्रित भाषा का प्रयोग दिखाई देता है। जब हम उस समय की वास्तु-कला और संगीत-कला पर ध्यान देते हैं तब उनमें हिंदू और मुसलमान आदर्शों का मेल पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है, कि उस समय हिंदू-मुसलमानों में परस्पर बहुत कुछ आदान-प्रदान आरंभ हो गया था। यद्यपि साहित्य में हिंदी के वीरगाथा-काल तक अपनी पूर्व परंपरा का परित्याग नहीं पाया जाता, परंतु यहाँ की भाषा में बहुत कुछ विदेशीय शब्द आने लग थे। अमीर खुसरो ने अपना "खालिकबारी" ग्रंथ तैयार करके भाषा के आदान प्रदान में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई थी। उसके कुछ काल उपरांत साहित्य में भावों का आदान प्रदान भी आरंभ हुआ। इस प्रकार हम खुसरो की कविता में युग प्रवर्तन का बहुत कुछ पूर्वाभास पाते हैं।

---

(२) भक्ति-काव्य—ज्ञानाश्रयी शाखा

प्रसिद्ध वीरशिरोमणि हम्मीरदेव के पतन के बाद हिंदी-साहित्य में वीरगाथाओं की रचना शिथिल पड़ गई थी। कबीर आदि संत कवियों के जन्म के समय हिंदू जाति की बड़ी दशा हो रही थी। वह समय और परिस्थिति अनीश्वरवाद के लिये बहुत ही उपयुक्त थी। यदि उसकी लहर चल पड़ती तो उसका रुकना कदाचित् कठिन हो जाता, परंतु कबीर आदि ने बड़े ही कौशल से इस अवसर से लाभ उठाकर जनता को भक्तिमार्ग की ओर प्रवृत्त किया और भक्तिभाव का प्रचार किया। प्रत्येक प्रकार की भक्ति के लिये जनता इस समय तैयार नहीं थी। मूर्तियों की अशक्तता वि० सं० १०८२ में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी, जब कि महमूद गजनवी ने आत्मरक्षा से विरत हाथ पर हाथ रखे हुए, भक्तजनों के देखते देखते सोमनाथ का मंदिर नष्ट करके उनमें से हजारों को तलवार के घाट उतारा था और लूट में अपार धन प्राप्त किया था। गजेंद्र की एक ही टेर सुनकर दौड़ आने वाले और ग्राह से उसकी रक्षा करनेवाले सगुण भगवान् जनता के बार से बार संकट-काल में भी उसकी रक्षा के लिये आते हुए न दिखाई दिए। अतएव उनकी ओर जनता को सहसा प्रवृत्त कर सकना असंभव था। पंढरपुर के भक्तशिरोमणि नामदेव की सगुण भक्ति जनता को आकृष्ट न कर सकी। लोगों ने उसका वैसा अनुसरण न किया जैसा आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों का किया और अंत में उन्हें भी ज्ञानाश्रित निर्गुण भक्ति की ओर झुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी, यद्यपि निर्गुण की शक्ति का भली भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता था, उसका आभासमात्र मिल सकता था। पर प्रबल काल-धारा में बहते हुए मनुष्य के लिये यह तृणरूप सहारा था

चट्टान किस काम की जो उसकी रक्षा के लिये तत्परता न दिखलावे। उसकी ओर बढ़कर आता हुआ तिनका भी जीवन की आशा पुनरुद्दीप्त कर देता है और उसी का सहारा पाने के लिये वह अनायास हाथ बढ़ा देता है। संत कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में यही आशा उत्पन्न करके उसे कुछ अधिक समय तक विपत्ति की इस अथाह जल-राशि के ऊपर बने रहने की उत्तेजना दी। यद्यपि सहायता की आशा के आगे बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहारा सगुण भक्ति से ही मिला और केवल राममक्ति ही उसे किनारे पर लगाकर सर्वथा निरापद कर सकी; पर इससे जनता पर होनेवाले कबीर, दादू, रैदास आदि संतों के उपकार का महत्त्व कम नहीं हो जाता। कबीर यदि जनता को भक्ति की ओर न प्रवृत्त करते तो क्या यह संभव था कि लोग इस प्रकार आँखें मूँद करके सूर, तुलसी का महत्त्व कर लेते! तात्पर्य यह कि संत कवियों का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने जीवित रहने की आशा तक नहीं रह गई थी और न उसमें अपने आपको जीवित रखने की इच्छा ही शेष थी। उसे मृत्यु या धर्म परिवर्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं देख पड़ता था। यद्यपि धर्मशील तत्त्वज्ञों ने सगुण उपासना से आगे बढ़ते-बढ़ते निर्गुण उपासना तक पहुँचने का सुगम मार्ग बतलाया है और वास्तव में यह तथ्य युक्ति-संगत भी जान पड़ता है, पर उस समय जनता को सगुण उपासना की निस्सारता का परिचय मिल चुका था और उस पर से उसका विश्वास भी उठ चुका था। अतएव कबीर को अपनी व्यवस्था उलटनी पड़ी। मुसलमान भी निर्गुणोपासक थे। अतएव उनसे मिलते जुलते पथ पर लगाकर कबीर आदि ने हिंदू जनता को संतोष और शांति प्रदान करने का उद्योग किया। यद्यपि इस उद्योग में उन्हें पूरी पूरी सफलता नहीं हुई, तथापि यह स्पष्ट है कि कबीर के निर्गुणवाद ने तुलसी और सूर के सगुणवाद के लिये मार्ग प्रस्तुत कर दिया और

उपयोगी भारत के भावी धर्ममय जीवन के लिये उसे बहुत कुछ संस्कृत और परिष्कृत कर दिया।

जिस समय निर्गुण संत कवियों का आविर्भाव हुआ था, वह समय ही भक्ति की लहर का था। उस लहर को बढ़ाने के प्रबल कारण प्रस्तुत थे। भारतीय द्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद के भेद की ओर ध्यान नहीं दिया गया और दोनों के विचित्र मिश्रण के रूप में निर्गुण भक्तिमार्ग चल पड़ा। रामानंद के बारह शिष्यों में से कुछ इस मार्ग के प्रवर्तन में प्रवृत्त हुए जिनमें से कबीर प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त सेना, धन्ना, भवानंद पीपा और रैदास थे, परंतु उनका उतना प्रभाव न पड़ा जितना कबीर का।

मुसलमानों के आगमन से हिंदू-समाज पर एक और प्रभाव पड़ा। पद-दलित शूद्रों की दृष्टि का उन्मेष हो गया। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में द्विजों और शूद्रों का भेद नहीं है। स्वधर्मी होने के कारण वे सब एक हैं, उनके व्यवसाय से उनमें कोई भेदन ही आता है, न उनमें कोई छोटा है और न कोई बड़ा। अतएव इन उकसाये हुए शूद्रों में से कुछ ऐसे महात्मा निकले जिन्होंने मनुष्यों की एकता उद्घोषित कराने का विचार किया। इस नवोत्थित भक्ति-तरंग में सम्मिलित होने के कारण हिंदू-समाज में प्रचलित भेद-भाव के विरुद्ध आंदोलन होने लगा। रामानंदजी ने सबके लिये भक्ति का मार्ग खोल दिया। नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनिया, कबीर जुलाहा आदि समाज की नीची श्रेणी के ही थे, पर उनका नाम आज तक आदर से लिया जाता है।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखने पर भी हम संत कवियों का एक विशेष स्थान पाते हैं। यह ठीक है कि बिहारी और केशव आदि की-सी भाषा की प्रांजलता का अभिमान ये कवि नहीं कर सकते और न सूर, तुलसी की सरसता और व्यापकता ही इनकी कविता में पाई जाती है। जायसी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय की जैसी

एकरूपता दिखाई है, अनेक निर्गुण संत कवि उतनी सफलता से वह नहीं दिखा सके। यह सब होते हुए भी इन कवियों का स्थान हिंदी-साहित्य में अत्यंत उत्कर्षतापूर्ण तथा उच्च समझा जायगा। भाषा की मांजलता कम होते हुए भी उसमें प्रभावोत्पादकता बहुत है और उनकी तीव्रता से भावों में व्यापकता की बहुत कुछ कमी दूर हो जाती है। उनके संदेशों में जो महत्ता है, उनके उपदेशों में जो उदारता है, उनकी बानी उक्तियों में जो प्रभावोत्पादकता है, वह निश्चय ही उच्च कोटि की है। कविता के लिये उन्होंने कविता नहीं की है।

अब हम कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध संत कवियों की वैयक्तिक विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करते हैं—

कबीर—अब तक अनुसंधानों के अनुसार महात्मा कबीरदास का जन्म-संवत् १४५६ और मृत्यु-संवत् १५७५ माना जाता है। यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, फिर भी सब बातों पर विचार करने से इस मत के ठीक होने की अधिक संभावना है कि वे ब्राह्मणी या किसी हिंदू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न और मुसलमान परिवार में लालित पालित हुए। कदाचित् उनका बाल्यकाल मगहर में बीता था और वे पीछे से काशी में आकर बसे थे जहाँ से अंतकाल के कुछ पहले उन्हें पुनः मगहर जाना पड़ा हो। प्रसिद्ध स्वामी रामानंद को इन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया था। कुछ लोगों का यह भी मत है कि उनके गुरु शेख तकी नामक कोई सूफी मुसलमान फकीर थे। धर्मदास और सुरत गोपाल नाम के उनके दो चेले हुए। कबीर की मृत्यु के पीछे धर्मदास ने छत्तीसगढ़ में कबीर पंथ की एक अलग शाखा चलाई और सुरतगोपाल काशीवाली शाखा की गद्दी के अधिकारी हुए। कबीर के साथ प्रायः लोई का नाम भी लिया जाता है। संभवतः लोई उनकी पत्नी और कमाल उनका पुत्र था।

कबीर बहुश्रुत थे। उनका सत्संग से वेदांत, उपनिषदों और पौरा

नामक स्थान में हुई थी और यही स्थान अब तक दादूपंथियों का मुख्य केंद्र बना हुआ है।

दादू का प्रचार-क्षेत्र अधिकतर राजपूताना तथा उसके आस-पास का प्रांत था, अतः उनके उपदेशों की भाषा में राजस्थानी का पुट पाया जाता है। संत कवियों की भाँति दादू ने भी साखियाँ तथा पद आदि कहे हैं जिनमें सद्गुरु की महिमा, ईश्वर की व्यापकता, जाति-पाँति की अवहेलना आदि के उपदेश दिए गए हैं। इनकी वाणी में कबीर की वाणी से सरसता तथा रस अधिक है, यद्यपि ये कबीर के समान प्रतिभाशाली नहीं थे। कबीर तर्कप्रिय थे, अतः उन्हें तार्किक की-सी कठोरता भी धारण करनी पड़ी थी; परंतु दादू ने हृदय की सच्ची अनुभूतियों का ही अभिव्यंजन किया है। इनकी मृत्यु संवत् १६६० में हुई थी। आरम्भ-काल के संत कवियों में ये पढ़े-लिखे जान पड़ते हैं।

मलूकदास—ये औरंगजेब के समकालीन निर्गुण भक्त कवि थे। "अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम" वाला प्रसिद्ध दोहा इन्हीं की रचना है। इनकी भाषा साधारण संत कवियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और संस्कृत होती थी और इनको छंदों का भी ज्ञान था। रत्नखान तथा ज्ञानबोध नाम की इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं जिनमें वैराग्य तथा प्रेम आदि की मनोहर वाणी व्यक्त की गई है। एक सौ आठ वर्ष की अवस्था में सं० १७३९ में इनकी मृत्यु हुई थी। ये कड़ा जिला इलाहाबाद के निवासी थे।

सुंदरदास—इन संत कवियों में सबसे अधिक विद्वान् तथा पंडित कवि सुंदरदास हुए। सुंदरदास दादूदयाल की शिष्य-परंपरा में थे। इनका अध्ययन विशेष विस्तृत था। इन्होंने काशी में आकर शिक्षा प्राप्त की थी। सुंदरदास की भाषा शुद्ध काव्य-भाषा है और उनकी वाणी में उनके उपनिषदों आदि से परिचित होने का पता चलता है, परंतु कबीर आदि की भाँति उनमें स्वभावसिद्ध मौलिकता

तथा प्रतिभा अधिक नहीं थी, इससे उनका प्रभाव भी विशेष नहीं पड़ा। सुंदरदास के अतिरिक्त संतों में अक्षर अनन्य, धर्मदास, जगजीवन आदि का नाम भी लिया जाता है, साथ ही तुलसी साहब, गरीब साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि अनेक संत हुए जिनमें से अधिकांश का साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। परंतु संतों की परंपरा का अंत नहीं हो गया और न्यूनाधिक रूप में वह बराबर चलती रही और अब तक चली जा रही है।

यद्यपि साहित्यिक समीक्षा में निर्गुण संत कवियों को उच्चतम स्थान नहीं दिया जाता, पर इससे हम उनके किए हुए उपकार नहीं भूल सकते। मुसलमान और हिंदू संस्कृतियों के उस संघर्ष-काल में जिस शांतिमयी वाणी की आवश्यकता थी, उसी की अभिव्यंजना संतों ने की। अब भी हिंदी के प्रधान कवियों में कबीर आदि का उच्च स्थान है और प्रचार की दृष्टि से तो महात्मा तुलसीदास के बाद इन्हीं का नाम लिया जायगा। इसमें संदेह नहीं कि इस युग में इन सब महात्माओं के कारण हिंदी-साहित्य का बड़ा उपकार हुआ।

---

(४) भक्ति-काल—प्रेममार्गी शाखा

कबीर आदि संतों की बानी अटपटी है। उसमें ब्रह्म की निराकार उपासना का उपदेश दिया गया है और वेदों तथा पुराणों की निंदा करके एक प्रकार के दंभ-रहित सरल सर्वसाधारणपूर्ण धर्म की स्थापना का लक्ष्य रक्खा गया है। राम और रहीम को एक ठहराकर हिंदू तथा मुसलमान मतों का अद्भुत मेल मिलाया गया है। इसी प्रकार हिंसा और मांस भक्षण का खंडन कर तथा नमाज और पूजा का विरोध करके इन संतों ने जिस मार्ग का अनुसरण किया जिसका नहीं वह साधारण जनता की समझ में नहीं आ सकता था। फिर भी कबीर आदि का देश के साधारण जन-समुदाय पर जो महान् प्रभाव पड़ा, वह कहने-सुनने की बात नहीं है। वे संत पढ़े-लिखे न थे, उनकी भाषा में साहित्यिकता न थी उनके पद ऊटपटाँग थे तथापि उन्हें जनता ने स्वीकार किया और उनकी विशेष प्रसिद्धि हुई। इसके विपरीत सूफी कवियों के उद्गार अधिकतर संयमित और शास्त्रानुमोदित थे। उनकी भाषा भी अच्छी मँजी हुई थी और छंद आदि का भी उन्हें ज्ञान था। इन कवियों की संख्या भी कम न थी। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि देश में सूफी कवियों की न तो अधिक प्रसिद्धि ही हुई और न उनका अधिक प्रचार ही हुआ। इनमें से अनेक कवि तो नामावशेष ही थे और कठिनाई से उनके ग्रंथों का पता लगा है। संभवतः साहित्यिक समाज में भी इन कवियों का विशेष महत्वपूर्ण स्थान कभी नहीं माना गया। इनकी कविताओं के उदाहरण न तो लक्षण-ग्रंथों में मिलते हैं और न धार्मिक संग्रहों में ही उन्हें स्थान दिया गया है। संभवतः सूफियों की रहस्योन्मुख भावनाएँ इस देश की जल-वायु के उतनी भी अनुकूल नहीं थीं जितनी कबीर आदि की अटपटी और अव्यवस्थित बानी थीं।

प्रेमाख्यानक सूफी कवियों की परंपरा हिंदी में कुतबन के समय से चली। कुतबन शेरशाह के पिता हुसैनशाह के आश्रित थे और चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। इनके प्रेम काव्य का नाम मृगावती है जो इन्होंने सन् ९ ९ हिजरी में लिखा था। चंद्रनगर के अधिपति गणपतिदेव के राजकुमार तथा कांचननगर की राजकुमारी मृगावती की प्रेम-गाथा इसमें अंकित की गई है। प्रेममार्ग के कष्ट तथा त्याग आदि का वर्णन करते हुए कुतबन ने अज्ञात की प्राप्ति के कष्टों का आभास दिया है। मृगावती के उपरांत दूसरी प्रेमगाथा मधुमालती लिखी गई जिसकी एक खंडित प्रति खोज में मिली है। इसके रचयिता मंझन बड़े ही सरसहृदय कवि थे। इन्होंने प्रकृति के दृश्यों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है और उन दृश्यों के द्वारा अव्यक्त की ओर बड़े ही मधुर संकेत किए हैं। प्रेमगाथाकारों में सबसे प्रसिद्ध कवि जायसी हुए जिनका पद्मावत काव्य हिंदी का एक जगमगाता रत्न है। इस काव्य में कवि ने ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कथानकों के संयोग से बड़ी ही रोचकता ला दी है। इसमें मानव-हृदय के उन सामान्य भावों के चित्रण में बड़ी ही उदारता तथा सहानुभूति का परिचय दिया गया है जिनका देश और जाति की संकीर्णताओं से कुछ भी संबंध नहीं। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए कवि की तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि वह अखिल दृश्य जगत् को एक निरंजन ज्योति से आभासित पाता और भावातिरेक के कारण उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। जायसी के उपरांत उसमान, शेख नबी, नूरमुहम्मद आदि अनेक प्रेमगाथाकार हुए, पर पद्मावत का सा विशद काव्य फिर नहीं लिखा गया। सगुणोपासक तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों के आविर्भाव से प्रेमगाथाकारों की शक्ति बहुत कुछ क्षीण पड़ गई थी।

उपर्युक्त प्रेमगाथाओं में बहुत सी बातें मिलती-जुलती हैं। एक तो इनकी रचना भारतीय चरित-काव्यों की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी

की मसनवियों के ढंग पर हुई है। जिस प्रकार फारसी की मसनवियों में ईश्वर-वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन राजा की प्रशंसा आदि का उल्लेख कथारंभ के पहले होता था, उसी प्रकार इनमें भी है। प्रेमगाथाओं की भाषा भी प्रायः एक सी है। यह भाषा अवध प्रांत की है। इन प्रेम की पीर के कवियों का प्रधान केंद्र अवध की भूमि ही थी। छंदों के प्रयोग में भी इस समुदाय के कवियों में समानता पाई जाती है। सबने प्रायः दोहों और चौपाइयों में ही प्रबंध-रचना की है। ये छंद अवधी भाषा के इतने उपयुक्त हैं कि महाकवि तुलसीदास ने भी अपने प्रसिद्ध रामचरितमानस में इन्हीं छंदों का प्रयोग किया है। चौपाई छंद तो मानो अवधी भाषा के लिये ही बनाया गया था, क्योंकि ब्रज भाषा के कवियों ने इस छंद का सफलता-पूर्वक उपयोग कभी किया ही नहीं। समता की अंतिम बात यह है कि प्रेमगाथाकार सभी कवि मुसलमान थे। एक तो यह संप्रदाय ही मुसलमानों के सूफी मत को लेकर खड़ा हुआ था दूसरे *हिंदू कवियों में उसी समय के लगभग* सगुणोपासना चल पड़ी और वे व्यक्त के भीतर अव्यक्त का रहस्यमय साक्षात्कार करने की अपेक्षा व्यक्त को ही सब कुछ मानने और अवतार रूप में राम और कृष्ण की जीवन-गाथा अंकित करने में प्रवृत्त हुए। *मुसलमान प्रारंभ से ही मूर्तिद्वेषी थे। अतः उन्हें सूफियों की शैली* के प्रचार का विशेष सुभीता था।

प्रेममार्गी सूफी कवियों ने प्रेम का चित्रण जिस रूप में किया है उसमें विदेशीयता ही नहीं है, भारतीय शैलियों का भी प्रभाव है। एक तो इस देश की रीति के अनुसार नायक उतना प्रेमोन्मुख नहीं होता जितनी नायिका होती है, परंतु जायसी आदि ने फारसी की शैली का अनुसरण करते हुए नायक को अधिक प्रेमी तथा प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील दिखाया है। वास्तव में इन कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। सूफी अपने प्रियतम ईश्वर की कल्पना स्त्री के रूप में करते थे। इसलिये जायसी आदि को भी नायक के प्रेम का ही

प्रधानता देनी पड़ी। परंतु भारतीय शैली के अनुसार असंख्य गोपिकाएँ कृष्ण के प्रेम में लीन, उनके विरह में व्याकुल और उनकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहती हैं। वास्तव में यह प्रेम भी अपने शुद्ध रूप में ईश्वरोन्मुख है, क्योंकि भारतीय दृष्टि में कृष्ण भगवान् पूरी कलाओं के अवतार, जगदुद्धारक, योगीश्वर आदि माने जाते हैं और उनके प्रति गोपिकाओं का प्रेम पुरुष के प्रति प्रकृति का प्रेम समझा जाता है। सूफ़ी कवियों पर इस भारतीय शैली का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने प्रारंभ में नायक को प्रियतमा की प्राप्ति के लिये अत्यधिक प्रयत्नशील दिखाकर ही संतोष नहीं कर लिया, वरन् उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को भी दिखाया। दूसरी बात यह भी है कि इस देश में प्रेम की कल्पना लोक व्यवहार के भीतर ही की जाती है और कर्त्तव्य-बुद्धि से उच्छृंखल प्रेम का नियंत्रण किया जाता है। राम और सीता का प्रेम ऐसा ही है। कृष्ण और गोपियों के प्रेम में ऐकांतिकता आ गई है। परंतु सूफ़ियों के प्रेम की तरह वह भी बिलकुल लोकबाह्य नहीं है। भारतीय सूफ़ी कवियों ने इस देश की प्रेम-परंपरा का तिरस्कार नहीं किया। उनका प्रेम बहुत कुछ लोक व्यवहार के परे है, पर फिर भी असंयत नहीं। जायसी ने तो पद्मावत में नायिका के सतीत्व तथा उत्कट पति प्रेम आदि का दृश्य दिखाकर अपने भारतीय होने का पूरा परिचय दिया है। इन दो मुख्य बातों के अतिरिक्त मर्म-वर्णना में भारतीय दृश्यों का सजीव चित्र बनाकर प्रकृति के सुरम्य रूपों का चित्रित कर यहाँ के प्रेममार्गी कवियों ने अपने काव्यों को भारतीय जल-वायु के बहुत कुछ अनुकूल कर दिया है।

सूफ़ी सिद्धांत के अनुसार अंत में आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। इसी लिये उनकी कथाओं का अंत या समाप्ति दुःखांत हुई है। प्रारंभ में तो यह बात बनी रही है, पर आगे चलकर इस संप्रदाय के कवि यह बात भूल गए अथवा भारतीय पद्धति का, जिसमें सुखांतवाद प्रधान था और जिसके अनुसार दुःखांत नाटक तक नहीं बने, उन पर

इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने नायक और नायिका का मंगल विलास और सुख-चैन में रखकर ही अपने ग्रंथ की समाप्ति की है।

सूफी कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। उन्होंने अपने प्रेम-प्रबंधों में यद्यपि लौकिक कथा ही कही है, परंतु वह लौकिक कथा उनकी हृदयानुभूति को व्यक्त करने का साधन-मात्र है। उस कथा से उनका संबंध बहुत घनिष्ठ नहीं है, वहीं तक है जहाँ तक वह उनके ईश्वरोन्मुख प्रेम के अभिव्यंजन में समर्थ होती है। सूफियों का प्रेम ईश्वर के प्रति होता है परंतु ईश्वर तो निराकार है, निर्गुण है अतः अवर्णनीय है। हाँ, उसका आभास देने के लिये लौकिक कथाओं की सहायता लेनी पड़ती है। पद्मावत की ही कथा को ले लीजिए। उसमें यद्यपि चित्तौड़ के अधिपति रत्नसेन और सिंहल द्वीप की राजकन्या पद्मावती की कथा कही गई है, परंतु जायसी ने एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि उनकी यह कथा तो रूपकमात्र है, वास्तव में वे उस ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति कर रहे हैं जो प्रत्येक साधक के हृदय में उत्पन्न होती है और उसे ईश्वर-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करती है। यही नहीं, जायसी ने तो अपने रूपक को और भी खोल दिया है और अपनी कथा के विविध प्रसंगों तथा पात्रों को ईश्वर-प्रेम के विविध अवयवों का व्यंजक बतलाया है। इस प्रकार उनकी पूरी कथा एक महान् अन्योक्ति ठहरती है। सभी प्रस्तुत वर्णन अप्रस्तुत की ओर संकेत करते हैं, कवि की दृष्टि से स्वतः उनका विशेष महत्त्व नहीं। यह ठीक है कि कवि की दृष्टि ही समीक्षक की भी दृष्टि नहीं होती, अतः साहित्य-समीक्षक सारे वर्णनों को अप्रस्तुत न मानकर बीच बीच में अप्रस्तु की ओर संकेत मात्र मानते हैं, परंतु संत सूफियों का ठीक आशय समझने में हम भूल नहीं कर सकते। रत्नसेन और पद्मावती के लौकिक रूप से उनका उतना संबंध नहीं था जितना अपने पारमार्थिक प्रेम से था। कथा-प्रसंगों में, बीच बीच में, प्रेमी के कष्ट और त्याग आदि के वर्णन मिलते हैं और प्रसंगवश से वियोग प्रकृति के विरह तथा मिलन का ऐसा मर्मस्पर्शी

विश्वास मिलता है कि हमारी दृष्टि लौकिक सीमा से ऊँचे उठकर उस पार जाती देख पड़ती है जिस ओर ले जाना प्रेममार्गी संत कवियों का लक्ष्य था।

कबीर आदि संतों का रहस्यवाद इतना अनन्य है, अतः वह उतना काव्योपयोगी नहीं है जितना जायसी आदि सूफियों का। जायसी ने अपनी रहस्यात्मकता को दृश्य जगत् के नाना रूपों का अव्यक्त के साथ संबंध चरितार्थ करते हुए दिखाया है। कभी जब यह दृश्य जगत् अव्यक्त से वियुक्त होता है तब वियोग के कितने ही व्यापक और रम्य दृश्य दिखाई पड़ते हैं, कभी जब इसका उसके साथ संयोग होता है, तब सारी प्रकृति मानो आनंदोल्लास से नाच उठती है। इस प्रकार प्रकृति की ही सहायता से जायसी का रहस्यवाद व्यक्त हुआ है। इसके विपरीत कबीर ने वेदांत के अनेक वादों तथा अन्य दार्शनिक शैलियों का अनुसरण करते हुए रहस्योद्गार व्यक्त किए हैं।

जायसी के कुछ काल उपरांत जब तुलसीदास का आविर्भाव हुआ तब सूफियों की कविता क्षीण हो चली। हिंदुओं की सगुण भक्ति के प्रवाह में सूफियों की निर्गुण भक्ति ठहर न सकी, बह गई। उसमान जहाँगीर के समकालीन कवि थे। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य-परम्परा में थे, हाजी बाबा इनके गुरु थे। संवत् १६७० में इनका चित्रावली नामक काव्य लिखा गया। सभी प्रेमगाथाओं की भाँति इसमें भी पैगंबर गुरु आदि की वंदना है और बादशाह जहाँगीर को भी स्मरण किया गया है।

उसमान के उपरांत योग्य नहीं हुए। परन्तु इनके उपरांत प्रेममार्गी कवि-संप्रदाय प्रायः निर्जीव-सा हो गया। यद्यपि कासिमशाह, नूर मुहम्मद, फाजिलशाह आदि कवि होते रहे, पर उनकी रचनाओं में इस संप्रदाय का ह्रास साफ झलकता-सा जान पड़ता है। हाँ, नूर मुहम्मद की "इंद्रावती" की प्रेम-कहानी अवश्य सुंदर बन पड़ी है। यह संवत् १८०१ में लिखी गई थी।

क्या भावों के विचार से और क्या भाषा के विचार से सूफी कवियों ने हिंदी को पहले से बहुत आगे बढ़ाया। वीर-गाथा-काल में केवल वीरोल्लासपूर्ण कविता का सृजन हुआ, वह भी परिमाण में अधिक नहीं। उस काल की भाषा तो बिलकुल अविकसित थी। अस्वस्थ कवियों के हाथ में पड़कर वह और भी भोंडी बन गई। उसके उपरांत कबीर का समय आया। कबीर महात्मा थे और उनके द्वारा साहित्य में पूत भावनाओं का समावेश हुआ। काव्यत्व के विचार से उन पूत भावनाओं का उत्कर्ष चाहे अधिक न हो, पर इससे उनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। कबीर की भाषा तो बहुत ही बिगड़ी हुई है। कुछ पंजाबी खड़ी बोली, कुछ ब्रजभाषा और कुछ अवधी का पुट देकर जो खिचड़ी तैयार हुई वह रमते साधुओं के काम की भले ही हो, सर्व साधारण—विशेषकर परिमार्जित रुचि रखनेवालों—के लिये उसमें कुछ भी नहीं है। सूफी कवियों ने अपने उदार भावों को शुद्ध भाषा में व्यक्त करके दोनों ही क्षेत्रों में अपनी सफलता का परिचय दिया। कबीर आदि संतों की बानी सामूहिक रूप से देश के लिए बड़ी हितकारिणी सिद्ध हुई। परंतु सूफियों की प्रबंध-रचनाओं ने सामाजिक हित भी किया और साहित्यिक समृद्धि में भी सहायता दी। यह ठीक है कि सूर और तुलसी आदि के प्रकट होते ही प्रेममार्गी कवि बहुत कुछ भुला दिए गए और हिंदी भी अत्यधिक समृद्ध हो गई, पर इतना कहना ही पड़ेगा कि तुलसी का एक मार्जित भाषा देकर रामचरित-मानस की रचना में सहायक होने में जायसी आदि सूफियों का नाम अवश्य लिया जायगा। हिंदुओं के प्रति सहानुभूति इन मुसलमान कवियों की खास विशेषता है। इनका हृदय अतिशय उदार और स्वर्गीय प्रेम की पीर से ओत-प्रोत था। सबसे बड़ी वस्तु इनका कवितागत रहस्यवाद है जिसकी समता हिंदी-साहित्य में कोई नहीं कर सकता।

इन मुसलमान सूफी कवियों की देखादेखी हिंदू कवियों ने भी उपाख्यान-काव्यों की रचना की। पर इन सब काव्यों का ढंग था तो

पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा पूर्णतया काल्पनिक है। सूफी कवियों की रचनाओं में प्रेम की जो लहर अजस्र रूप से व्याप्त हो रही है, उसका हिंदू कवियों की इन रचनाओं में अभाव है। ऐसे काव्यों में लक्ष्मणसेन-पद्मावती कथा, ढोलामारू री चउपाई, रसरतन काव्य, चंद्रकला, प्रेमपयोनिधि, कनकमंजरी, कामरूप की कथा, हरिचंद्र पुराण आदि हैं। इनके संबंध में सूचना कर देना आवश्यक है कि इन्हीं उपाख्यानों की परंपरा के परिणाम-स्वरूप उन अमर काव्यों की हिंदी में रचना हुई जिनके कारण हिंदी-साहित्य गौरवान्वित और सम्मानित हुआ।

भक्ति की थी। निंबार्क ने विष्णु स्वामी से भी अधिक दृढ़ता से राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण के साथ गोलोक में चिर-निवास करनेवाली कहा। राधा का यही परम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला का जो विशद वर्णन किया है, उस पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क के मतों का प्रभाव स्पष्ट है। विद्यापति राधा और कृष्ण के संयोग शृंगार का ही विशेषतः वर्णन करते हैं। उसमें कहीं कहीं अश्लीलत्व भी आ गया है। पर अधिकांश स्थलों में प्रिया राधा का प्रियतम कृष्ण के साथ बड़ा ही सात्विक और रसपूर्ण सम्मिलन प्रदर्शित किया गया है। बंगाल के चंडीदास आदि कृष्ण भक्त कवियों ने भी राधा की प्रधानता स्वीकृत की है। प्रसिद्ध भक्त और हिंदी की कवयित्री मीराबाई के प्रसिद्ध पद "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" में गोपाल कृष्ण का स्मरण है जो निंबार्क संप्रदाय के प्रचलन के अनुसार है। मीराबाई के कुछ पदों में जो अश्लीलता देख पड़ती है, वह वास्तव में प्रेमातिरेक के कारण है और निःसंदेह सात्विक है। विद्यापति और मीराबाई पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क के मत की छाप थी। विष्णु स्वामी सिद्धांतों में मध्वाचार्य के और निंबार्काचार्य रामानुज के अनुयायी थे।

वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैतवाद कहलाए। शंकर के ज्ञान के बदले वे भक्ति को ग्रहण करते हैं और भक्ति ही साधन तथा साध्य भी बतलाई जाती है।

सूरदास—वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरस वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और समग्र जनता को जीने का नवीन उत्साह मिला। सूरदास का जन्म लगभग सं० १५४ में आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव में हुआ था।

जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदासजी की भेंट हुई थी तब तक

ये वैरागी के वेश में रहा करते थे। तब से वे उनके शिष्य हो गए और उनकी आज्ञा से नित्य प्रति अपने उपास्य देव और सखा कृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का वृहत् समूह सूर सागर है जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अंध कवि के मुख से निःसृत हुए, उनमें पुनरुक्ति चाहे भले ही हो पर उनकी मर्म स्पर्शिता और हृदयहारिता में किसी को कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता।

सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है। पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परन्तु यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद महाकवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इस ग्रंथ में कृष्ण की बाललीला से लेकर उनके गोकुल-त्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में कही गई है। ये पद मुक्तक के रूप में रखे हुए भी एक भाव का पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः हम सूरसागर को गीति काव्य कह सकते हैं। गीति-काव्य में जिस प्रकार छोटे छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उसमें जैसे कवि की अन्तरात्मा झलकती देख पड़ती है, विपरयात्मक कथा प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा भय आदि कठोर और कपरा भावों का समावेश न कर उसमें जैसे सरलता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर के गेय पदों में उपयुक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूर्ण जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं देख पड़ती, केवल प्रेम, विरह आदि विविध भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुंदर बन पड़ी है।

सूरदास की कीर्ति को अमर कर देने और हिंदी-कविता में उन्हें

उपासना प्रचलित करने के लिये उनका बृहदाकार ग्रंथ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिंदी की अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है साथ ही जीवन का सरल स्वाभाविक प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के संबंध में गंभीर व्याख्यायें सूरदास ने अंकित नहीं की, पर मनुष्य-जीवन में कोमलता, सरलता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का उद्योग और भी स्तुत्य है। परंतु उनकी कृति तत्कालीन स्थिति से संबंध रखती हुई भी सार्वकालीन और निरंतन है। उनकी उत्कट कृष्ण-भक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी पवित्र वाणी में जो अनूठी उक्तियाँ आपसे आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही संतोष कर सकते हैं। सूरदास हिंदी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का दूसरा कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है यह निश्चयपूर्वक कह सकना सरल काम नहीं।

महाकवि सूरदास के अतिरिक्त राधाकृष्ण के प्रेम में मग्न, सरस पद रचना चतुर कृष्णदास परमानंद, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी गोविंदस्वामी आदि अष्टछाप के कवि वल्लभस्वामी और उनके पुत्र विट्ठलनाथ की शिष्य-परंपरा में हुए। इन अनेक उत्कृष्ट कवियों से हिंदी-साहित्य की अशेष श्रीवृद्धि हुई।

हितहरिवंश और स्वामी हरिदास—अष्टछाप के बाहर रहकर भक्ति-काव्य की रचना करनेवालों में ये कवि विशेष रीति से उल्लेख योग्य हैं, क्योंकि ये दोनों ही उत्कृष्ट पदों के भवेता और नवीन संप्रदायों के स्रष्टा हुए। हितहरिवंशजी माध्व और निंबार्क मतों से प्रभावित थे, पर उन्होंने राधा की उपासना महत्व कर राधावल्लभी

संप्रदाय की सृष्टि की। उनके "राधा-सुधानिधि" और "हित चौरासी" नामक ग्रंथ के सभी पद अत्यंत कोमल और सरस भावापन्न हैं। इनके शिष्यों में ध्रुवदास और व्यासजी प्रधान हुए, जिनकी रचनाओं से हिंदी की पर्याप्त श्रीवृद्धि हुई। अत्यंत कोमल भावापन्न सरस पदों के रचयिता रसखान भी इस युग के भक्तिक्षेत्र में महा महाकवि हुए।

अकबरी दरबार—इन भक्त कवियों के समकालीन प्रसिद्ध मुगल-सम्राट् अकबर के दरबार में भी अनेक कवियों को प्रश्रय मिला था। अकबर का राजत्व-काल सुख और समृद्धि से संपन्न था। वैभव की अट्टालिकाएँ खड़ी की जा रही थीं। हिंदू और मुसलमानों का साम्य बढ़ रहा था। इस अवसर पर नीतिकार और सूक्तिकार कवियों का अभ्युदय स्वाभाविक था।

रहीम—अकबर के दरबार के उच्च कर्मचारी होते हुए भी ये हिंदी कविता की ओर खिंचे थे। नीति के सुन्दर सुंदर दोहे इन्होंने बड़ी मार्मिकता से कहे। जीवन के सुख-वैभव का अच्छा अनुभव करने के कारण रहीम की तत्संबंधी उक्तियों में तीव्र भाव-व्यंजना है। दोहों के अतिरिक्त इन्होंने बरवै सोरठा, सवैया, कवित्त आदि अनेक छंदों तथा संस्कृत के वृत्तों में भी रचना की है। उनका बरवै छंदों में लिखा नायिकाभेद ठेठ अवधी के माधुर्य से समन्वित है। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास तक ने इससे प्रभावित होकर इसी छंद में बरवै रामायण लिखी थी। गोस्वामीजी की ही भाँति रहीम का अवधी और ब्रजभाषा दोनों पर समान अधिकार था और गोस्वामीजी की रचनाओं की भाँति इनकी रचनाएँ भी जनता में अत्यधिक प्रचलित हुईं। गोस्वामी जी से इनकी भेंट हुई थी और दोनों में गहराई भाव भी था। ये बड़े ही उदारहृदय दानी थे और इनका अनुभव बड़ा ही विस्तृत, सूक्ष्म और सत्य था।

गंग और नरहरि—ये दोनों ही अकबर के दरबार के श्रेष्ठ हिंदू कवि थे। गंग की शृंगार और वीररस की जो रचनाएँ संग्रहों में

मिलती हैं, उनसे भाषा पर इनके अधिकार और वाग्वैभव का पता चलता है। जनता में इनका बड़ा नाम है, परंतु इनकी एक भी रचित पुस्तक अब तक नहीं मिली। "तुलसी गंग दोऊ भए, सुकविन के सरदार" की पंक्ति इन्हीं को लक्ष्य करके कही गई है। नरहरि बंदीजन अकबर के दरबार में सम्मानित हुए थे। कहते हैं कि बादशाह ने इनका एक छप्पय सुनकर अपने राज्य में गो-वध बंद कर दिया था। नीति पर इन्होंने अधिक छंद लिखे।

अकबर के दरबारियों में बीरबल और टोडरमल भी कवि हो गए हैं। बीरबल अकबर के मंत्रियों में से थे और अपनी वाक्चातुरी तथा विनोद के लिये प्रसिद्ध थे। इनके आश्रय में कवियों को अच्छा सम्मान मिला था और इन्होंने स्वयं ब्रजभाषा में सरस और सानुप्रास रचना की थी। महाराज टोडरमल के नीति-संबंधी फुटकर छंद मिलते हैं जो कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि के नहीं हैं। इनके अतिरिक्त मनोहर, हरिनाथ आदि कवि भी अकबरी दरबार में थे। स्वयं बादशाह अकबर की भी ब्रजभाषा में कुछ रचनाएँ पाई जाती हैं। ब्रजभाषा को इतना बड़ा राजसम्मान इसके पहले कभी नहीं मिला था।

दरबार से असंबंधित कवियों में सेनापति का स्थान सर्वोच्च है। इन्होंने षट्ऋतुओं का वर्णन किया है जो बड़ा ही हृदयग्राही हुआ है। इन्हें प्रकृति की सूक्ष्म सूक्ष्म बातों का अनुभव भी था और इनका निरीक्षण भी विशेष तीव्र था। इनकी पिछले समय की भक्ति और वैराग्य की रचनाएँ चित्त पर स्थायी प्रभाव डालती हैं। इनकी भाषा ब्रज की भाषा होते हुए भी अलंकृत है। इनका कवित्त-रत्नाकर अब तक अप्रकाशित है।

इसी काल की रचनाओं में नरोत्तमदास का "सुदामा-चरित" भी है, जो कविता की दृष्टि से अच्छा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अकबर और जहाँगीर के राजत्वकाल में हिंदी कविता, क्या भाषा और क्या भावों की दृष्टि से विशेष प्रौढ़ हो गई।

---

(७) रीति-काल

हिंदी में सूर और तुलसी के समय तक साहित्य की इतनी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी थी कि कुछ लोगों का ध्यान भाषा और भावों को अलंकृत करने तथा संस्कृत की काव्य-रीति का अनुकरण करने की ओर खिंच रहा था। इसका यह अर्थ नहीं है कि सूर और तुलसी तथा उनके पूर्व के सत्कवियों में आलंकारिकता नहीं थी अथवा वे काव्य-रीति से परिचित ही न थे। ऐसी बात नहीं थी। अनेक कवि पूर्ण शास्त्रज्ञ और काव्य-कलाविद् थे। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म आलंकारिक शैलियों का पूरा पूरा ज्ञान रखते थे। स्वयं महात्मा तुलसीदासजी ने अपनी अनभिज्ञता का विज्ञापन देते हुए भी ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर अपना पूर्ण आधिपत्य तथा काव्य-रीति का सूक्ष्मतम अभिज्ञान दिखाया है। अंतर इतना ही है कि उन्हें काव्य-कला को साधन-मात्र बनाकर रचना करनी थी, साध्य बनाकर नहीं। अतएव उन्होंने अलंकारों आदि से सहायक का काम लिया है, स्वामी का नहीं। इसके विपरीत पीछे के जो कवि हुए, उन्होंने काव्य-कला की परिपुष्टि को ही प्रधान मानकर शेष सब बातों को गौण स्थान दिया और मुक्तकों के द्वारा एक एक अलंकार, एक एक नायिका अथवा एक एक ऋतु का वर्णन किया है। आगे चल कर यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि बिना रीति-ग्रंथ लिखे कवि-कर्म पूरा नहीं समझा जाने लगा। हिंदी-साहित्य के इस काल को हम इसी लिये रीति-काल कहते हैं। नीचे रीति-काल के कुछ मुख्य कवियों तथा आचार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

केशवदास—यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशवदास भक्ति-काल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचंद्रिका आदि ग्रंथ लिखने के कारण वे ।८) वैं

नहीं कहे जा सकते, परंतु उन पर पिछले काल के संस्कृत-साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिंदी काव्य-धारा से पृथक् होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिंदी में रीति-ग्रंथों की परंपरा के आदि आचार्य कहलाए।

केशवदास ओड़छे के राजा इंद्रजितसिंह के आश्रित दरबारी कवि थे। संस्कृत-साहित्य-मर्मज्ञ पंडित-परंपरा में उत्पन्न होने के कारण इनकी प्रवृत्ति रीति-ग्रंथों की ओर हुई थी। संस्कृत से पूर्ण परिचित होने के कारण इनकी भाषा संस्कृत मिश्रित और साहित्यिक है। इनकी कृतियों में कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका आदि मुख्य हैं। यद्यपि केशव के पहले भी कृपाराम, गोप, मोहनलाल आदि ने रीति-साहित्य के निर्माण का आरंभ किया था, पर उनकी रचनाएँ केशवदास के सर्वतोमुख प्रभाव के सामने एकांगी हो गई हैं। रीति-काल के इन प्रथम आचार्य केशवदास का स्थान हिंदी में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। कुछ आलोचक उन्हें हृदयहीन कहते हैं, पर हृदयहीन कहकर संबोधित करने में हम उनके प्रति अन्याय करते हैं; क्योंकि एक तो उनकी हृदयहीनता जानी-समझी हृदयहीनता है और फिर अनेक स्थलों में उन्होंने पूर्ण सहृदय होने का परिचय दिया है। जिस कवि की रसिकता वृद्धावस्था तक बनी रहे, उसे हृदयहीन कहा भी कैसे जा सकता है! यह बात अवश्य है कि केशवदास उन कविपुंगवों में नहीं गिने जा सकते जो एक विशिष्ट परिस्थिति के निर्माता हैं। ये तो अपने समय की परिस्थिति द्वारा निर्मित हुए हैं और उसके प्रत्यक्ष प्रतिबिंब हैं।

चिंतामणि और मतिराम—ये त्रिपाठी-बंधु मुक्तक छंदों में रीति-शैली की रचना करनेवालों में अग्रगामी हुए। चिंतामणि के काव्यविवेक, कविकुलकल्पतरु, काव्यप्रकाश आदि बड़ी ही सरस कविता पुस्तकें हैं। मतिराम तो अपनी भाषा और भावों के सरल सुंदर स्वाभाविक प्रवाह के लिये रीति-काल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में परिगणित हुए। रसराज और ललितललाम रीति-काल की श्रेष्ठ रचनाएँ इनकी ही कृतियाँ हैं।

बिहारीलाल—रीति-काल के कवियों में प्रसिद्धि की दृष्टि से बिहारी अन्यतम हैं। बिहारी उस श्रेणी के समीक्षकों में सबसे अधिक प्रिय हैं जो अलग अलग दोहों की कारीगरी पर मुग्ध होते और बात की करामात पसंद करते हैं। सौंदर्य और प्रेम के सुंदरतम चित्र बिहारी ने खींचे हैं। पर अलंकरण की ओर उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक थी। उनकी कविता आवश्यकता से अधिक नपी-तुली हो जाने के कारण सर्वत्र स्वाभाविकता-समन्वित नहीं है। बिहारी ने पाठ-बाट देखने में जितना परिश्रम उठाया होगा, उतना वे यदि हृदय की टोह में करते तो हिंदी कविता उन्हें पाकर अधिक सौभाग्यशालिनी होती। यह सब होते हुए भी उनकी सतसई हिंदी की अमर कृति कहलायगी और श्रेणी विशेष के साहित्य-समीक्षकों तथा काव्य-प्रेमियों के लिये तो वह सर्वश्रेष्ठ रचना है ही। दोहे जैसे छोटे छंद में इतने भावों की सफल व्यंजना करने में बिहारी की टक्कर का कदाचित् ही कोई कवि हिंदी में मिले।

देव—ये इटावे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे*। इनका काव्यक्षेत्र बड़ा व्यापक और विस्तृत था। रीति-काल के कवियों में इतनी व्यापकता और कहीं नहीं देख पड़ती। देव की सौंदर्य विवृति सरस अतः मर्मस्पर्शिनी है। परंतु इनके गायन का मुख्य विषय प्रेम है। रीति-काल के थोड़े से आचार्यों में देव की गणना की जाती है। रीति संबंधिनी उनकी कुछ स्वतंत्र उद्भावनाओं का उल्लेख मिश्र-बंधुओं ने किया है। पांडित्य की दृष्टि से रीति-काल के समस्त कवियों में देव का स्थान आचार्य केशवदास से कुछ नीचे माना जा सकता है। कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहर सकते हैं, परंतु अनुभव और सूक्ष्म-दर्शिता में उस कोटि की काव्य प्रतिभा का मिलना करने और सुंदर

* इस संबंध में पं० रामचंद्र शास्त्री का मत दूसरा है।

कल्पनाओं की मनोरमी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिंदी काव्य-क्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीति-काल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है।

भिखारीदास—ये ट्योंगा, प्रतापगढ़ (अवध) के रहनेवाले कायस्थ कवि थे। इनका काव्य-निर्णय ग्रंथ अब भी रीति के विद्यार्थियों का प्रिय ग्रंथ है। भिखारीदास के आचार्यत्व की बड़ी प्रशंसा की जाती है और रीति के सब अंगों का विवेचन करने के कारण उनकी कृतियाँ बड़े आदर से देखी जाती हैं। उनकी सुंदर समीक्षाओं तथा मौलिक उद्भावनाओं का उल्लेख भी किया गया है। कविता की दृष्टि से दासजी की रचनाएँ बहुत ऊँची नहीं उतरतीं। रीति-काल के पूर्ववर्ती कवियों के भावों को लेकर स्वतंत्र विषय खड़ा करने में यद्यपि वे बड़े पटु थे, पर भावों के निर्वाह की मौलिक शक्ति न होने के कारण उन्हें सफलता कम मिली है। अवध में रहकर शुद्ध चलती ब्रजभाषा लिख सकना तो बहुत कठिन है, पर दासजी की भाषा सामान्यतः शुद्ध और साहित्यिक है। इससे उनके ब्रजभाषा के विस्तृत अध्ययन का पता चलता है। समीक्षा बुद्धि के अभाव के कारण रीति की लीक पर चलनेवाले अनेक कवियों से भिखारीदास का स्थान बहुत ऊँचा है, पर कवियों की बहुत ऊँची पंक्ति में उन्हें कभी स्थान नहीं दिया गया।

पद्माकर—रीति-काल के अंतिम चरण के पद्माकर सबसे प्रसिद्ध कवि हैं। ये तैलंग ब्राह्मण मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। पिता की प्रसिद्धि के कारण अनेक राजदरबारों में इनका सम्मान हुआ था। इनकी शृंगाररस की कविताएँ इतनी प्रसिद्ध हुईं कि इनके नाम पर कितने ही कवि-नामधारियों ने अपनी कुत्सित वासनाओं से सने उद्गारों को मनमाने ढंग से फैलाया। आज भी इनके नाम की ओट लेकर बहुत-सी अश्लील रचनाएँ देहातों की कविमंडली में सुनी सुनाई जाती हैं। पद्माकर की कृतियों में यदि थोड़ा अश्लीलत्व है तो उनके अनुकरणकारियों में उसका दसगुना। पद्माकर की अनुप्रासप्रियता भी

बहुत प्रसिद्ध है। जहाँ अनुप्रासों की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा वहाँ भावों का नैसर्गिक प्रवाह अवश्य मंद होगा और भाषा में अवश्य तोड़-मरोड़ करनी पड़ेगी। संतोष की बात इतनी ही है कि उनके छंदों में उनकी भाव धारा को सरल स्वच्छंद प्रवाह मिला है, जिनमें हावों की सुंदर योजना के बीच में सुंदर चित्र खड़े किए गए हैं।

इसके अतिरिक्त कालिदास त्रिवेदी, कुलपति मिश्र, कृष्ण कवि, ग्वाल कवि घनानंद, ठाकुर कवि, तोषनिधि, दास कवि, दूलह द्विजदेव, नेवाज, पद्माकर, प्रतापसाहि, बोधा, भूपति (राजा गुरुदत्त सिंह), मंडन मिश्र, महाराज जसवंत सिंह, यशोदानंदन, रघुनाथ, रसनिधि, रसलीन, रसिक सुमति, श्रीधर या मुरलीधर, श्रीपति, सुखदेव मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भूषण और लाल—हिंदी के इस सर्वतोव्याप्त शृंगार-प्रवाह के बीच भूषण और लाल का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने जातीय जागर्ति का शक्तिशाली उपक्रम किया। औरंगजेब के धार्मिक कट्टरपन के कारण जब हिंदू जाति का अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया, तब प्रतिकार की प्रेरणा से महाराष्ट्र-शक्ति का अभ्युदय हुआ। इस शक्ति को संघटित करनेवाले छत्रपति शिवाजी हुए जिनके मार्ग प्रदर्शन का काम समर्थ गुरु रामदास ने किया था। शिवाजी के अतिरिक्त बुंदेलखंड के प्रसिद्ध अधिपति छत्रसाल ने भी स्थानीय राजपूत-शक्ति को उत्तेजित करने का सफल प्रयास किया था। इस प्रकार महाराष्ट्र और मध्यदेश की शक्ति का जो उत्थान हुआ, उसमें राष्ट्रीयता की पूरी पूरी झलक दिखाई पड़ी। सौभाग्य से इन दोनों राष्ट्रनायकों को भूषण तथा लाल जैसे सुकवियों का सहयोग भी प्राप्त हुआ, जिससे शक्ति संघटन में बड़ी सहायता मिली। जातियों के उत्थान में जब कभी महात्माओं, योद्धाओं तथा कवियों की सम्मिलित सहायता मिलती है, तब वह बड़े ही सौभाग्य की सूचना होती है और उससे उनके कल्याण का पथ बहुत कुछ निश्चित और निर्धारित हो जाता है। उसी काल में सिक्खों की शक्ति

का भी उदय हुआ और उन्होंने राष्ट्रहित की साधना में पूरा पूरा सह भाग दिया, पर सिक्ख धर्म का आरंभ संतों की वाणी तथा उन्हीं की प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुकूल हुआ था। पीछे से समय की स्थिति ने इस धर्म पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह संत साधुओं के धर्म का बाना उतारकर वीरों की वेश-भूषा तथा कृतियों से सुसज्जित और अलंकृत हो गया। यद्यपि गुरु गोविंदसिंह के समय में हिंदी काव्यों की रचना हुई, पर वे वीरगाथात्मक नहीं थे वरन् उस समय के साहित्य की प्रवृत्ति के अनुकूल थे। भूषण और लाल की रचनाओं पर विचार करते हुए हमें यह भूल न जाना चाहिए कि इनका आविर्भाव उस काल में हुआ था जिस काल में रीति-ग्रंथों की परंपरा ही सर्वत्र देख पड़ती थी। नायिका भेद की पुस्तकों, नखशिख वर्णनों और शृंगाररस के फुटकर पद्यों का जो प्रबल प्रवाह उस समय चला था, उससे बचकर रहना तत्कालीन किसी कवि के लिए बड़ा ही कठिन था। भूषण और लाल भी उस सर्वतोमुख प्रवाह से एकदम बचे न रह सके। यद्यपि भूषण की सभी रचनाएँ प्रायः वीररस की हैं परंतु उन्होंने अपने "शिवराजभूषण" नामक ग्रंथ में उन रचनाओं को विविध अलंकारों आदि के उदाहरण स्वरूप रखा है। यह काल-दोष था। उस समय इससे बच सकना असंभव था। इसी प्रकार लाल कवि ने भी यद्यपि वीररस धारण किया था, तथापि "विष्णुविलास" नामक नायिका-भेद की एक पुस्तक उन्होंने लिख ही डाली। कविवर लाल के 'छत्रप्रकाश' नामक ग्रंथ में प्रसिद्ध छत्रसाल की वीरगाथा अंकित है और प्रबंध-काव्य के रूप में होते हुए भी उसकी रचना अत्यंत प्रौढ़ और मार्मिक हुई है। महाकवि भूषण की ही भाँति कविवर लाल के इस ग्रंथ में जातीयता की भावना मिलती है और उन्हीं की भाँति इनकी इस रचना में शृंगाररस नहीं आने पाया है।

---

(८) आधुनिक काल—पद्य-प्रवाह

कविता में परिवर्तन—हिंदी की ह्रासकारिणी शृंगारिक कविता के प्रतिकूल आंदोलन का श्रीगणेश उस दिन से समझा जाना चाहिए जिस दिन भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने अपने "भारत-दुर्दशा" नाटक के आरम्भ में समस्त देशवासियों को संबोधित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बहाने को आमंत्रित किया था। इस देश के और यहाँ के साहित्य के इतिहास में वह दिन किसी अन्य महापुरुष के जन्म-दिवस से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उस दिन शताब्दियों से सोते हुए साहित्य ने जागने का उपक्रम किया था, उस दिन रूढ़ियों की अनिष्टकर परंपरा के विरुद्ध प्रबल क्रांति की घोषणा हुई थी। उस दिन छिन्न-भिन्न देश को एक सूत्र में बाँधने की शुभ भावना का उदय हुआ था। उसी दिन देश और जाति के प्राण एक सत्कवि में सच्चे जातीय जीवन की झलक दिखाई दी और उसी दिन संकीर्ण प्रांतीय मनोवृत्तियों का अंत करने के लिये स्वयं सरस्वती ने राष्ट्रभाषा के प्रतिनिधि कवि के कंठ में बैठकर एक राष्ट्रीय भावना उच्छ्वसित की थी। भारत माता की करुणोज्ज्वल छवि देश ने और देश के साहित्य ने उसी दिन देखी थी और उसी दिन सुनी थी टूटी-फूटी शृंगारिक वीणा के स्थान पर गंभीर झंकार, जिसे सुनते ही एक नवीन जीवन के उल्लास में वह नाच उठा था।

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, भारतेंदु हरिश्चन्द्र आदि के उद्योग से सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में जो हलचल मची उसके परिणाम-स्वरूप सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण बात हुई, जनता में शिक्षा की अभिरुचि। संस्कृत तथा उर्दू फारसी को प्राय ग्रहण करनेवाली प्रस्था स्वामी दयानंद से अधिक

अनेकमुखी साहित्यवृत्ति के कारण भिन्न भिन्न पाठकों की रुचि को भिन्न भिन्न प्रकार से आकर्षित करते हैं। पण्डित नाथूरामजी शर्मा सिद्ध छन्द शब्द-निर्माता और कवि हैं। आर्यसमाजी होते हुए भी उनकी सब कविताएँ साम्प्रदायिक नहीं हो गई हैं और कुछ में तो उत्तम कोटि के कवित्व की झलक मिलती है। शृंगाररस के पद्माकरी कवियों की भाँति भी इन्होंने कुछ कविताएँ कीं, पर वे उनके योग्य नहीं कही जा सकतीं।

मैथिलीशरण गुप्त—बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त आधुनिक खड़ी-बोली के सबसे प्रसिद्ध प्रतिनिधि कवि हैं। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में रहकर उन्होंने अपनी भाषा का बड़ा ही सुंदर और परिमार्जित रूप खड़ा किया। द्विवेदीजी की ही भाँति उनकी भाषा में संस्कृत का पुट रहता है, पर 'प्रियप्रवास' की भाँति वह अतिशय संस्कृत-गर्भित नहीं होता। उर्दू के बहुत ही थोड़े शब्दों को ग्रहण करने के कारण वे पंडित गयाप्रसाद 'सनेही' जी की उर्दू-मिश्रित कविता-शैली से भी विभिन्न रूप में हमारे सामने आते हैं। भाषा की दृष्टि से उनका मध्यम मार्ग ही कहा जायगा। लोकप्रियता की दृष्टि से मैथिलीशरणजी को जितना गौरव प्राप्त हुआ है, उतना आधुनिक काल में किसी कवि को नहीं प्राप्त हुआ। गुप्तजी की 'भारत-भारती' अब भी देश-प्रेमी नवयुवकों का कण्ठहार हो रही है। उसके सैकड़ों पद हिंदी-भाषा भाषी जनता की जिह्वा की नोक पर धरे रहते हैं। कितने ही नौसिखुए कवि अब भी उसका अनुसरण करते देखे जाते हैं। पर काव्य की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। काव्य की दृष्टि से उनका 'जयद्रथवध' खंड-काव्य उत्कृष्ट हुआ है। उसमें वीररस का पूर्ण परिपाक और बीच बीच में करुणरस के सुंदर छींटे देखकर मन रसमग्न हो जाता है। उनकी अन्य रचनाओं में 'पंचवटी' सर्वश्रेष्ठ है। उसमें लक्ष्मण का चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल चित्रित हुआ है, और पूरी पुस्तक में सुंदर पदों की अनोखी छटा देख पड़ती है। गुप्तजी का आधुनिक समय का प्रतिनिधि कवि होना इसी बात से सिद्ध होता है कि उनकी छायावाद

के ढंग की रचनाएँ भी उस श्रेणी के कवियों की प्रशंसा पा चुकी हैं। गुप्तजी की कविता में कहीं कृत्रिमता नहीं देख पड़ती। गुप्तजी ने 'साकेत' नामक एक महाकाव्य भी लिखा है। उसके बहुत-से अंश हिंदी के सामयिक मासिक पत्रों में यथासमय प्रकाशित होते रहे हैं। गुप्तजी की इस कृति ने निश्चय ही उन्हें हिंदी के आधुनिक कवियों में उच्च आसन प्रदान किया है। उन्होंने बँगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनादवध', 'वीरांगना', 'विरहिणी व्रजांगना' तथा नवीनचंद्र सेन के 'पलासीर युद्ध' का भी हिंदी में अनुवाद किया है। इन अनुवादों में गुप्तजी को अद्भुत सफलता मिली है। इनसे इनकी विलक्षण क्षमता का पता तो चलता ही है, खड़ीबोली की शब्द-शक्ति भी प्रकट होती है।

सनेहीजी और दीनजी—पंडित गयाप्रसाद शुक्ल सनेही और लाला भगवानदीन उर्दू मिली भाषा में कविता के अनुयायी हैं। दोनों ही राष्ट्रीयता के भाव को लेकर आए हैं और दोनों की रचनाएँ साथ निकली हुई हैं। अंतर इतना ही है कि सनेहीजी ने आधुनिक समाज को अपनी कविता का लक्ष्य बनाया और दीनजी महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि वीर नृपतियों की प्रशस्तियाँ लिखने में लगे रहे। राष्ट्रीय कवियों को साहित्य की क्लिष्ट भाषा लेकर नहीं चलना पड़ता, उन्हें तो जनता की प्रचलित भाषा का आश्रय लेना पड़ता है। इस दृष्टि से सनेहीजी और दीनजी दोनों ने ही भाषा का उपयुक्त चुनाव किया है। राष्ट्रीय कवियों को पूरी सफलता तभी मिल सकती है जब वे राष्ट्रीय आराधना में स्वयं सम्मिलित हों और उत्साहपूर्वक जनता को मुक्ति का पथ दिखावें। चंद, भूषण आदि वीर कवियों ने ऐसा ही किया था। हिंदी के आधुनिक राष्ट्रीय कवियों में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी और पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का नाम इस दृष्टि से प्रशंसनीय कहा जायगा। सनेहीजी की कुछ शृंगारिक रचनाएँ अच्छी नहीं हुई हैं, पर वे उनकी प्रारंभिक कृतियाँ हैं।

शुक्लजी—पंडित रामचंद्र शुक्ल की प्रसिद्धि उत्कृष्ट गद्य-लेखक और समालोचक की दृष्टि से है, उनकी कविताएँ उन्हें अधिक सम्मानित नहीं कर सकी हैं। बुद्ध चरित के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ इधर उधर बिखरी पड़ी हैं, संग्रहीत नहीं हुई हैं। शुक्लजी हिंदी के विद्वान् और दार्शनिक आलोचक हैं, परंतु उनकी सहृदयता भी विशेष उल्लेख योग्य है। वन्य प्रकृति के उजाड़ और सूने स्थल के प्रति भी उनका जितना अनुराग है उतना बगीचा में खिले हुए गुलाब के फूल के प्रति नहीं। दृश्य को बड़े ही व्यापक रूप में देखने की प्रवृत्ति शुक्लजी को मिली है। उनके प्राकृतिक वर्णन बुद्ध-चरित के सर्वश्रेष्ठ अंश हैं, उनसे उनका सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिभासित होता है। 'हृदय के मधुर भार' शीर्षक उनके फुटकर पद्यों में कहीं व्यंग्य और कहीं मीठी चुटकियों के द्वारा मानव-समाज की प्रमत्तता, दुर्बलता और अहंकारिता का नग्न रूप दिखाया गया है।

त्रिपाठीजी—पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने हिंदी में 'मिलन', 'पथिक', तथा 'स्वप्न' नामक तीन खण्ड-काव्यों की रचना की है। उनकी भाषा में संस्कृत का सौष्ठव दर्शनीय है। यद्यपि उनमें भावों की मधुरता नहीं है, पर एक ही वस्तु को बड़ी सुंदरता से कई बार दिखाने में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। राष्ट्रीयता की भावना उनकी पुस्तकों में भरी पड़ी है। इसी से राजनीतिक क्षेत्र के बड़े-बड़े व्यक्तियों ने उनकी प्रशंसा की है, यद्यपि उनकी राजनीति कहीं कहीं उनकी कविता में बाधक हो गई है। 'विधवा का दर्पण' शीर्षक उनकी एक छुटक रचना हिंदी में उनकी अब तक की कृतियों में उच्च स्थान की अधिकारिणी है।

ब्रजभाषा के आधुनिक कवि—ब्रजभाषा में कविता करनेवालों में हरिश्चन्द्र के उपरांत प्रेमघन और श्रीधर पाठक श्रेष्ठ कवि हुए। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके पश्चात् स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण शर्मा कविरत्न और बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का नाम

सिद्ध है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' कानपुर के वकील थे। वे ब्रजभाषा की अच्छी कविता करते थे। उनके 'चंद्रकला-भानुकुमार' नाटक के कुछ सवैये ऐसे उत्कृष्ट हुए हैं जो देव और मतिराम की समता करते हैं। उन्होंने कालिदास के अमर काव्य 'मेघदूत' का ब्रजभाषा में 'धाराधरधावन' नाम से अनुवाद भी किया है। वे खड़ीबोली में भी कविता करते थे। उनकी स्फुट कविताओं में 'शकुंतला-जन्म' नामक कविता अच्छी बन पड़ी है।

पंडित सत्यनारायण कविरत्न ब्रजमंडल (आगरे) के रहनेवाले, ब्रजपति के अनन्य भक्त, बड़े ही रसिक और सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी रचनाओं में ब्रज की माधुरी लबालब भरी है। उनकी स्फुट कविताओं का संग्रह 'हृदय-तरंग' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उन्होंने भवभूति के 'मालती-माधव' नाटक का ऐसा सरस और मधुर अनुवाद किया है, जिसमें मौलिकता का आभास झलकता है। देश के कुछ महापुरुषों—जैसे महात्मा गांधी, कवींद्र रवींद्र, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक आदि की जो प्रशस्तियाँ सत्यनारायणजी ने लिखी हैं वे भी बड़े मार्के की हैं। स्वदेशानुराग की सच्ची झलक दिखानेवाले थोड़े कवियों में इनकी गणना होगी।

रत्नाकरजी—ब्रजभाषा के आधुनिक सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। इनका 'हरिश्चंद्र' काव्य सुंदर हुआ है, पर 'गंगावतरण' नामक नवीन रचना में इनकी सच्ची काव्य-प्रतिभा चमक उठी है। इस ग्रंथ में रत्नाकरजी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हार्दिक भावों का सामंजस्य दिखा दिया है। रत्नाकरजी की भाषा-शैली पद्माकरी कही जा सकती है और अनुभावों के प्रस्तुत करने में उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों का उपयोग किया है। ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में वियोगी हरिजी की भी अच्छी प्रसिद्धि है। ये भक्त हैं, दार्शनिक हैं और वीर-रस की कविता करनेवाले हैं। यद्यपि यह युग ब्रजभाषा का नहीं है तथापि उपयुक्त कवियों की रचनाएँ उत्कृष्ट भी हुई हैं और

पठित जनता में उनका प्रचार भी हुआ है। आधुनिक काल के ब्रजभाषा के कवियों में रत्नाकरजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

अन्य कविगण—इस युग के अन्य कवियों में पंडित रूपनारायण पांडेय, बाबू सियारामशरण गुप्त, पंडित अनूप शर्मा, पंडित गिरिधर शर्मा, पंडित कामताप्रसाद गुरु, पंडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लोचनप्रसाद पांडेय, ठाकुर गोपालशरण सिंह, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान आदि भी उल्लेखनीय हैं। रूपनारायणजी की भाषा चलती हुई खड़ी बोली है। उनकी कविता में पूरी रसात्मकता है। हिंदी की लीरिक कविताओं में उनकी 'वन विहंगम' शीर्षक रचना उत्कृष्ट है। सियारामशरणजी ने सामाजिक कुरीतियों पर इतनी तीव्र व्यंग्यमयी और करुण कविता की है कि चित्त पर स्थायी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। समाज-नीति को काव्योपयोगी बनाने की विधि हिंदी में सियाराम शरणजी का सबसे अधिक आती है। इस क्षेत्र में उनकी सफलता प्रायः अद्वितीय है। वीररस की फड़कती हुई कविता करने के कारण पंडित अनूप शर्मा को कुछ लोग आधुनिक भूषण कहते हैं। वास्तव में उनकी अनेक रचनाएँ अपूर्व ओजस्विनी हुई हैं। पंडित गिरिधर शर्मा "नवरत्न" संस्कृत के विद्वान् और हिंदी के अच्छे कवि हैं। इन्हें गुजराती और बँगला की कविता पुस्तकों के अनुवाद में अच्छी सफलता मिली है। गुरुजी की कविताओं में व्याकरण के नियमों की अच्छी रक्षा हुई। पंडित रामचरित उपाध्याय और पंडित लोचनप्रसाद पांडेय को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने प्रोत्साहन देकर कवि बनाया था। उपाध्यायजी की रामचरित-चिंतामणि अपने ढंग की सुंदर पुस्तक है। पांडेयजी की छोटी छोटी रचनाएँ अच्छी हुई हैं। ठाकुर गोपालशरण सिंह 'सरस्वती' और द्विवेदीजी की छाया में ही बढ़कर कवि हुए हैं। 'माधवी' में उनकी कुछ रचनाएँ अच्छी हुई हैं। श्रीमती सुभद्रा-कुमारी निश्चय ही इस समय की सबसे अच्छी महिला कवि हैं। उनकी रचनाएँ सरल और सजीव होती हैं। उनमें सुकुमार, रचिरता

पूर्ण भावों की न्यूनता नहीं होती। इन कवियों के अतिरिक्त स्वर्गीय पंडित मन्नन द्विवेदी और पंडित माखनलाल चतुर्वेदी आदि की कवितायें भी महत्त्व रखती हैं। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की रचनायें पुरानी शैली और नवीन छायावादी शैली—दोनों के बीच की हैं। पुरानी शैली के विचार से उनकी कृतियाँ छायावाद लिए हुए होती हैं और छायावादी रचनाओं में वे सबसे अधिक सुलझी हुई होती हैं। श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कुछ रचनायें अच्छी हुई हैं।

छायावाद—हिंदी की काव्य-धारा का सामान्य परिचय ऊपर दिया गया है। अब थोड़े समय से हिंदी कविता में रहस्यवाद या छाया वाद की वृद्धि हो रही है। कुछ लोग रहस्यवाद या छायावाद को आध्या त्मिक कविता बतलाते हैं और पाश्चात्य देशों के उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि धर्मगुरुओं और ज्ञानियों ने ही रहस्यवाद की कविता की है। इंगलैंड के अनेक रहस्यवादी कवि साम्प्रदायिक कवियों की श्रेणी में आवेंगे, क्योंकि उनकी कविता में लोकसामान्य भावों का समावेश नहीं है, विभिन्न संप्रदायों की विचार परंपरा के अनुसार उसकी रचना हुई है। परंतु रहस्यवाद की कविता साम्प्रदायिक आधार का महत्त्व लिए बिना भी लिखी जा सकती है। इंगलैंड के ब्लेक, फारस के उमर ख़ैयाम और भारत के जायसी आदि कवियों ने बहुत कुछ ऐसी ही कविता की है। यह ठीक है कि उनकी काव्यगत अनुभूतियाँ सामान्य अनुभूतियों से विभिन्न हैं पर वे सत्य हैं, अतः उनमें रसात्मकता पूरी मात्रा में पाई जाती है। हिंदी के कवि जायसी ने प्रकृति के विविध रूपों में अनंत विच्छेद और अनंत संयोग की जो झलक दिखलाई है उसका उद्घाटन स्वतः अनुभव किया था, केवल सूफी संप्रदाय की किंवदंती के आधार पर वह अवलंबित नहीं है। हिंदी की आधुनिक रहस्यवाद की कविता में भी बहुत साम्प्रदायिकता अवश्य घुस आई है। इस आधु निक रहस्यवाद के उत्पादन में हिंदी कविता को भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं से बहुत प्रेरणा मिली है। छायावाद की

सकनेवाली बात उसके भावों की अस्पष्टता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है उसका रहस्य जान लेना सबके लिये सुगम नहीं है। दार्शनिक सिद्धांतों की अनुभूति भी सबका काम नहीं है। इस समय बहुत सी ऐसी रचनाएँ हो रही हैं जो इन दोषों से मुक्त नहीं कही जा सकतीं। पर इन सब बातों से निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ सत्य और नित्य होगा वह स्थायी रूप ग्रहण कर लेगा, अन्य सब बातें अपने आप ही नष्ट हो जायँगी। समय के प्रभाव और विद्या के प्रसार से जब यह प्रभाव संयत प्रणालियों में चलने लगेगा तब हिंदी कविता का नया विकास बड़ा ही मनोरम होगा।

छायावाद के कवि—यहाँ पर यह कह देना भी बहुत आवश्यक जान पड़ता है कि हिंदी के रहस्यवादी कवियों में जिनकी गणना होती है, वे सबके सब रहस्यवादी नहीं हैं। उनमें से कुछ ने तो रहस्यवाद की एक भी कविता नहीं लिखी। अँगरेजी लीरिक कविता के ढंग पर रचना करनेवाले कितने ही नवीन कवि रहस्यवादी कहलाने लगे हैं। बाबू जयशंकर प्रसाद कुछ पहले से ही रहस्यवाद की रचनाएँ करने लगे थे। उनकी कविता में सूफी कवियों का ढंग अधिकतर पाया जाता है, यद्यपि अँगरेजी कविता की छाया भी उनमें कम नहीं है। प्रसादजी ने संस्कृत साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया है और इनकी कविता की भाषा संस्कृतप्रधान होती है। भारतीय अद्वैतवाद को लेकर काव्यक्षेत्र में आनेवाले कवियों में पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी मुख्य हैं। उन्होंने तथा पंडित सुमित्रानंदन पंत ने पश्चिमीय शैली का अधिक प्रभाव लिया और रवींद्रनाथ की भाँति वैष्णव कविता की भी सहायता ली है। साम्प्रतिक दृष्टि से देखते हुए छायावादियों में श्री सुमित्रानंदन पंत की रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके भावों की उड़ान बहुत ऊँची है। उनकी भाषा संस्कृत-बहुल होती है, परंतु यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओं में लाक्षणिकता बहुत कुछ कोमल होकर आई है। पंडित मोहनलाल महतो की रचनाओं में भी रहस्यवाद की छाप है। रवींद्रनाथ

का काव्य गुरु स्वीकार करनेवाले ये ही हैं, यद्यपि रवींद्र की कविता की भोंडी बहुत नकल सबने की है।

हिंदी कविता का भविष्य—अब तक की कविता का जो चित्र ऊपर दिया गया है, उससे यह तो प्रकट होता है कि कविता की अनेकमुखी प्रगति इस युग में हो रही है, पर साथ ही यह भी प्रकट होता है कि विशेष महत्व विशिष्ट महाकवियों का अभ्युदय अब तक नहीं हुआ है। यह युग हिंदी के सर्वतोमुख विकास का है। पश्चिमीय शैलियों का महत्व इस युग की प्रधान विशेषता है। साहित्य के प्रत्येक पक्ष में प्रगति हो रही है। फिर भी अब तक परिवर्तन का ही युग चल रहा है। परिवर्तन के युग में जीवन की महान् और चिरकालीन भावनाओं को लेकर काव्य-रचना करना प्रायः असंभव होता है। साहित्यकारों का लक्ष्य जब तक परिवर्तन की ओर से हटकर जीवन की ओर नहीं जाता, तब तक उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। परंतु इस समय देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति भी अच्छी नहीं है। प्रतिभाशाली अनेक व्यक्ति साहित्य-क्षेत्र से अलग काम करते हैं। साहित्य अब तक जीवन की गहनता के बाहर का विलासोद्यान नंदन-निकुंज बना हुआ है। इसलिए अच्छे कर्मनिष्ठ उस ओर से विरक्त रहते हैं। साहित्य के लिये यह दुर्भाग्य की बात है। रूस और फ्रांस के उत्कृष्ट साहित्यकार प्रायः क्रांतियों के भीतर से उत्पन्न हुए थे, तमाशा देखनेवालों के अंदर से नहीं। भारत में भी क्रांति का वैसा ही युग आया हुआ है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही इस सर्वतोव्याप्त हलचल के बीच किसी दिव्यात्मा का उदय होगा जिससे हिंदी कविता की पुनःस्थापना होगी और जिससे अखिल भारतीय जन-समाज को अनुराग मिलेगा।

(६) आधुनिक काल—गद्य-प्रवाह

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता है खड़ीबोली में गद्य का विकास। इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ीबोली को अपनाया। यह काम एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए सिपाहियों को यहाँवालों से बातचीत करने में पहले बड़ी कठिनता होती थी। न ये उनकी अरबी फारसी समझते थे और न वे इनकी हिंदवी। पर बिना वाग्व्यवहार के काम चलना असंभव था, अतः इन्होंने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीखकर किसी प्रकार आदान प्रदान का मार्ग निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले पहल एक खिचड़ी पकी जिसमें दाल चावल सब खड़ीबोली के थे, सिर्फ नमक आगंतुकों ने मिलाया। आरंभ में तो यह निरी बाजारू बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों का यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले शुद्ध अशुद्ध बोलनेवालों से सही गलत बोलवाने के लिये शाहजहाँ को "शुद्धो सहीह इसुको अशुद्धो गलता स्मृत" का प्रचार करना पड़ा था, वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध अशुद्ध न निकलकर सही गलत निकला करता है। आजकल जैसे अँगरेजी पढ़े-लिखे भी अपने नौकर से एक ग्लास पानी न माँगकर एक गिलास ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुस-मुल उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने

आवश्यक का उत्सव कुतका का कठका कर लेने लगे और स्वप करते थे, एवं वे लोग बरहमन सुनकर भी नहीं चौंकते थे। रेख्ताई हिंदी, मुसलमानी हिंदी, दक्खिनी हिंदी और बाबू इंगलिश की तरह पर उस समय उर्दू हिंदी कहलाती थी पर पीछे केवल उर्दू शब्द स्वयं भेद बनकर उसी प्रकार उस भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा जिस तरह संस्कृत भाषा के लिये केवल संस्कृत शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे उत्तम साधन मानकर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ जहाँ वे फैलते गए, इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि इसके व्याकरण पर भी फारसी अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए, एक तो हिंदी कहलाता रहा और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का बंधन हिंदी के ही अनुसार रखकर, अँगरेजों ने इसका एक तीसरा रूप हिंदुस्तानी बनाया। अतएव इस समय हिंदी भाषा के तीन रूप वर्तमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी जो हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है, (२) उर्दू जिसका प्रचार विशेषकर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के बाहर की बोलचाल की भाषा है और (३) हिंदुस्तानी जिसमें साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसको बहुत से लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं। इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण है।

अब तक हिंदी में वर्तमान गद्य के जन्मदाता लल्लूजी लाल माने जाते हैं। पर अब उन अँगरेजों के कारण भ्रम है जो उनसे पहले के गद्य का अस्तित्व हिंदी में स्वीकार ही नहीं करते। अकबर बादशाह के यहाँ संवत् १६२० के था। उसमें "चंद

बंद बाजन की महिमा' खड़ीबोली के गद्य में लिखी है। उसके पहले का कोई प्रामाणिक गद्य-लेखक न मिलने के कारण उसे खड़ीबोली का प्रथम गद्य-लेखक मानना चाहिए। संवत् १६८० में जटमल ने राजस्थानी पद्य में "गोरा बादल री बात" लिखी थी, उसका अनुवाद संवत् १८८२ में किसी ने इसी भाषा के तत्कालीन गद्य में किया है। लल्लूजी लाल हिंदी को आधुनिक रूप देनेवाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का मुंशी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिंदी अनुवाद 'सुखसागर' वर्तमान है। इसके अनंतर इंशाअल्लाखाँ, लल्लूजी लाल तथा सदल मिश्र का समय आता है। इंशाअल्लाखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसी लिये कुछ लोग उसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। लल्लूजी लाल के 'प्रेमसागर' से सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। 'प्रेमसागर' में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय करिके, बुलायकर आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। तात्पर्य यह कि यद्यपि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों, विशेषकर डाक्टर गिलक्रिस्ट की कृपा से हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया, पर लल्लूजी लाल उसके जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी का प्रचार और प्रसार बढ़ा उसी प्रकार अँगरेजों की कृपा से हिंदी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिंदी-साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

उपर्युक्त चार लेखकों ने हिंदी को पहले पहल प्रतिष्ठा की और उसमें ग्रंथ-रचना की चेष्टा की। इनमें मुंशी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा अधिक उपयुक्त ठहरती है। इनमें सदासुख का अधिक सम्मान

मिलना चाहिए, क्योंकि ये कुछ पहले भी हुए और इन्होंने कुछ अधिक साधु भाषा का व्यवहार भी किया। इनके उपरांत विदेशों से आई हुई क्रिश्चियन मत का प्रचार करनेवाली धर्मसंस्थाओं अथवा मिशनों ने हिंदी में अपने कुछ धर्म-ग्रंथों, विशेषकर बाइबिल, का अनुवाद किया। बाइबिल का अनुवाद भाषा की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह देश के विस्तृत भू भाग में फैली हुई खड़ीबोली की सामान्यतः साधु भाषा में किया गया है। शासक अँगरेजों ने मुसलमानों की उर्दू को कचहरियों में जगह दी थी, पर धर्म प्रचारक मिशनरी यह भली भाँति जानते थे कि उर्दू यहाँ के जन-समाज की भाषा कदापि नहीं इसी लिये बाइबिल का अनुवाद शुद्ध हिंदी में हुआ था। उर्दूपन उससे बहुत दूर रखा गया। उसकी भाषा का रूप सदासुख लल्लूजी लाल की ही भाँति है, पर विदेशीय रचना शैली के कारण थोड़ा-बहुत अंतर अवश्य देख पड़ता है। लल्लूजी लाल के भाषा में ब्रज की बोली मिली हुई है, पर उपर्युक्त अनुवाद ग्रंथों में उसका बहिष्कार कर मानो खड़ीबोली के आगामी प्रचार की पूर्व सूचना सी दी गई है। जब ईसाइयों की धर्म पुस्तकें निकल रही थीं तब छापने की कल इस देश में आ चुकी थी, जिससे पुस्तकों के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

छापेखाने के फैल जाने पर हिंदी की पुस्तकें शीघ्रता से छपने चलीं। इसी समय सरकारी अँगरेजी स्कूल भी खुले और इनमें हिंदी उर्दू का झगड़ा खड़ा किया गया। मुसलमानों की ओर से सरकार को यह समझाया गया कि उर्दू को छोड़कर दूसरी भाषा संयुक्त प्रांत में है ही नहीं। कचहरियों में उर्दू का प्रयोग होता है, मदरसों में भी होना चाहिए। परंतु सत्य का तिरस्कार बहुत दिनों तक नहीं किया जा सकता। देवनागरी लिपि की सरलता और उसका देशव्यापी प्रचार अँगरेजों की दृष्टि में आ चुका था। लिपि के विचार से उर्दू की क्लिष्टता और अनुपयुक्तता भी आँखों के सामने आती जा रही थी। परंतु नीति के लिये सब कुछ किया जा सकता है। अँगरेज समझकर भी नहीं

समझना चाहते थे। इसी समय युक्तप्रांत में स्कूलों के इंस्पेक्टर हिंदी के पक्षपाती काशी के राजा शिवप्रसाद नियुक्त किए गए। राजा साहब के प्रयत्न से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई और स्कूलों में हिंदी को स्थान मिला। राजा साहब ने अपने अनेक परिचित मित्रों से पुस्तकें लिखवाईं और स्वयं भी लिखीं। उनकी लिखी कुछ अच्छी हिंदी मिलती है पर अधिकांश में उर्दू प्रधान भाषा ही उन्होंने लिखी। ऐसा उन्होंने समय और नीति को देखते हुए अच्छा ही किया।

इनकी रची हुई पुस्तकों की नामावली यह है—वर्णमाला, बालबोध, विद्यांकुर, वामामनरंजन, हिंदी व्याकरण, भूगोल हस्तामलक, छोटा हस्तामलक भूगोल, इतिहास-तिमिर-नाशक, गुटका, मानव धर्मसार, सैंडफोर्ड ऐंड मारटिन, सिक्खों का उदय और अस्त, स्वयंबोध उर्दू, अँगरेजी अक्षरों के सीखने का उपाय, राजा भोज का सपना और वीरसिंह का वृत्तांत। इन ग्रंथों में से कई संग्रहमात्र हैं और अधिकतर राजा साहब के ही बनाए हैं। राजा साहब की भाषा वर्तमान भाषा से बहुत मिलती है, केवल वह साधारण बोलचाल की ओर अधिक झुकती है और उसमें उर्दू शब्दों का भी कुछ आधिक्य है। इन्होंने कुछ छंद भी बनाए हैं पर विशेषतया गद्य ही लिखा है। ये जैनधर्मावलंबी थे। इनका जन्म संवत् १८८० में और स्वर्गवास १९५२ में हुआ।

इसी समय के लगभग हिंदी में संस्कृत के शकुंतला नाटक आदि का अनुवाद करनेवाले राजा लक्ष्मणसिंह हुए। ये आगरा के रहनेवाले थे। इनका कविता-काल संवत् १९११ के इधर उधर है। ये संवत् १९११ में डेपुटी कलेक्टर नियत हुए और १९४६ में इन्हें पेंशन मिली। संवत् १९३० में सरकार से इन्हें राजा की पदवी राजभक्ति के कारण मिली। इनका जन्म संवत् १८८३ में हुआ और १९५१ में इनका स्वर्गवास हुआ। राजा साहब ने पहले पहल खड़ीबोली में कालिदास-कृत 'शकुंतला नाटक' का अनुवाद गद्य में करके संवत् १९१६ में प्रकाशित

किया। इस पुस्तक का हिंदी रसिकों में बहुत बड़ा सम्मान हुआ। संवत् १९१२ के विलायत के प्रसिद्ध हिंदी प्रेमी फ्रेडरिक पिनकाट महाशय ने इसे इंगलिस्तान में छपवाया। इस पुस्तक का इंगलैंड में यहाँ तक आदर मिला कि यह इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पुस्तकों में सम्मिलित की गई। संवत् १९१४ में राजा साहब ने रघुवंश का अनुवाद गद्य में मूल श्लोकों के साथ प्रकाशित किया। यह एक बहुत बड़ी पुस्तक है। संवत् १९१८ में इन महाशय ने प्रसिद्ध मेघदूत के पूर्वार्द्ध का पद्यानुवाद छपवाया और संवत् १९४० में उसके उत्तरार्द्ध का भी अनुवाद प्रकाशित करके ग्रंथ पूर्ण कर दिया। यह ग्रंथ चौपाई, दोहा, सोरठा, शिखरिणी, सवैया, छप्पै, कुंडलिया और घनाक्षरी छंदों में बनाया गया है, जिसमें सवैया और घनाक्षरी प्राय अधिक हैं। इनमें से दोहा, सोरठा और चौपाइयों में तुलसीदास की भाषा रखी है और शेष छंदों में ब्रजभाषा। इनके गद्य में भी दो-चार स्थानों पर ब्रजभाषा मिल गई है, परंतु उसकी मात्रा बहुत ही कम है। इनकी भाषा मधुर एवं निर्दोष है। वर्तमान हिंदी-भाषा का प्रचार जब तक भारतवर्ष में रहेगा तब तक विद्वन्मंडली में राजा साहब का नाम बड़े आदर के साथ लिया जायगा।

गद्य के क्षेत्र में भारतेंदु और उनके समकालीन— भारतेंदु हरिश्चंद्र के कार्यक्षेत्र में आते ही हिंदी में अनुपम उन्नति का युग आया। अब तक तो खड़ीबोली गद्य का विकास होता रहा और पाठशालाओं के उपयुक्त छोटी मोटी पुस्तकें लिखी जाती रहीं पर अब साहित्य के अनेक अंगों पर ध्यान दिया गया और उनमें पुस्तक-रचना का प्रयत्न किया गया। भारतेंदु ने अपने बंगाल-भ्रमण के उपरांत बंगला के नाटकों का अनुवाद किया और मौलिक नाटकों की रचना की। कविता में देश प्रेम के भावों का प्रादुर्भाव हुआ। पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' और 'हरिश्चंद्र पत्रिका' भारतेंदुजी के पत्र थे। निबंध भी लिखे जाने लगे। उनके लिखे लेखों में

अतिरिक्त पंडित बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पंडित बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि थे।

भट्टजी का जन्म संवत् १९०१ में प्रयाग में हुआ था वे संस्कृत के अच्छे विद्वान् और भाषा के एक परम प्राचीन लेखक हैं। संवत् १९३४ में प्रयाग से हिंदी-प्रदीप नामक एक सुंदर मासिक पत्र प्रायः ३२ वर्ष तक निकलता रहा। भट्टजी उसके सदैव संपादक रहे। इनकी गद्य-लेखन पटुता एवं गंभीरता सर्वतोभावेन सराहनीय है। कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल विवाह नाटक, सौ अजान का एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी, आदि लेख इनके चमत्कारिक हैं। पद्मावती, शर्मिष्ठा और चन्द्रसेन नामक उत्तम नाटक-ग्रंथ भी भट्टजी ने रचे हैं। नाटककारों में श्रीनिवासदास और राधाकृष्णदास का नाम उल्लेख योग्य है। 'परीक्षागुरु' नामक एक अच्छा उपन्यास भी उस समय लिखा गया। आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं में स्वामी दयानंद के उपरांत सबसे प्रसिद्ध पंडित भीमसेन शर्मा हुए, जिन्होंने आर्यसमाज का अच्छा साहित्य तैयार किया। पंडित अम्बिकादत्त व्यास भी उस काल के मौलिक लेखकों में से थे। अखबारनवीसी में बाबू बालमुकुंद गुप्त सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए।

गुप्तजी का जन्म संवत् १९२२ में रोहतक जिले में हुआ था इनका हिंदी लेखन से सदैव बड़ी रुचि थी और इन्होंने पत्रों के संपादन से ही अपनी जीविका भी चलाई। आपने सात वर्ष बंगवासी का संपादन किया और फिर भारतमित्र के आप जीवन पर्यंत संपादक रहे। आपने रत्नावली नाटिका, हरिदास, शिवशम्भु का चिट्ठा, स्फुट कविता, खेलौना आदि पुस्तकें भी रचीं। इनकी गद्य और पद्य रचनाओं में मजाक की मात्रा खूब रहती थी और वे बड़ी मनोरंजक होती थीं। होली के संबंध में ये टेसू आदि खूब मार्के के बनाते थे। इनका शिवशम्भु का चिट्ठा एक बड़ा ही लोकप्रिय ग्रंथ है। इनका स्वर्गवास संवत् १९६४ में हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य के विभिन्न अंगों को लेकर बड़े ही उत्साहपूर्वक उनमें मौलिक रचनाएँ करनेवाले हिंदी के वे उपासक

बड़े ही शुभ अवसर पर उदय हुए थे। इनकी वाणी में हिंदी के वात्सल्य की झलक है, पर यौवनागम की सूचना भी मिलती है। देश प्रेम और जाति प्रेम की भावनाओं को लेकर साहित्य-क्षेत्र में आने के कारण इन सबकी रचनाएँ हिंदी में अपने ढंग की अनोखी हुई हैं।

भारतेंदु की नाटक-रचना शैली में भारतीय शैली और पाश्चात्य शैली का सम्मिश्रण हुआ है। भारतीय शैली के अंकों और गर्भांकों तथा विष्कंभक आदि को बदलकर बँगला के ढंग पर अंक और दृश्य की परिपाटी चली, पर संस्कृत के सूत्रधार, नटी, प्रस्तावना आदि ज्यों के त्यों बने रहे। चरित्रों का चित्रण करने में भारतेंदु ने संस्कृत के वर्गीकरणों का अनुसरण किया पात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दिया। यद्यपि उनके अनेक नाटक अनुवादित नाटक ही हैं और उनमें मौलिक अधिकांश नाटकों में भी कथानक का निर्माण उन्हें नहीं करना पड़ा है, पर कुछ नाटकों में उन्होंने अपनी कथानक निर्माण की शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। 'सत्यहरिश्चंद्र' में सत्य का उच्च आदर्श दिखाया गया है। अन्य नाटकों में प्रेम की पवित्र धारा बही है। भारतदुर्दशा में स्वदेशानुराग चमक उठा है। भारतेंदु की परिमार्जित गद्य शैली का व्यवहार उनके सभी नाटकों में देख पड़ता है। हाँ विषय और प्रसंग के अनुसार भाषा सरस अथवा क्लिष्ट हो गई है। लाला श्रीनिवासदास के 'रणधीर प्रेममोहिनी', 'संयोगिता स्वयंवर' आदि नाटक तथा बाबू राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' नाटक साहित्यिक दृष्टि से अच्छे हैं, यद्यपि रंगशाला के उपयुक्त नहीं। प्रेमघनजी का 'भारतसौभाग्य' नाटक भी अच्छा है, पर बहुत बड़ा हो गया है। पं० देवीप्रसाद पूर्ण का 'चंद्रकला भानुकुमार नाटक' गद्य काव्य की शैली में लिखी गई सुंदर कृति है।

नागरी-प्रचारिणी सभा और सरस्वती—हिंदी-साहित्य का
र विकास बड़ा ही आशाप्रद और उत्साह-वर्द्धक था। कोई समय

यह साहित्यिक प्रगति उस काल के मनोयोग और क्रियाशीलता की परिचायक हुई है। इस काल के उपरांत साहित्य के सभी अंगों की बड़ी सुंदर उन्नति हो चली और प्रत्येक क्षेत्र में अच्छे अच्छे लेखकों का अभ्युदय हुआ।

१९वीं शताब्दि के अंतिम दशाब्द में साहित्य के सौभाग्य से दो ऐसी बातें हुईं जिनसे हिंदी-साहित्य की अभिवृद्धि में बड़ी सहायता पहुँची। इनमें से प्रथम है काशी की 'नागरीप्रचारिणी सभा' की स्थापना और द्वितीय है प्रयाग से 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का प्रकाशन।

संवत् १९५० में काशी के उत्साही साहित्यिकों ने, जिनमें राय बहादुर श्यामसुंदरदास प्रमुख हैं, नागरी-प्रचारिणी सभा को जन्म दिया। सभा का उद्देश्य नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा का प्रचार, प्रसार तथा उन्नति करना था। सभा अपने सदुद्देश्य में पूर्ण सफल हुई और उसने *हिंदी भाषा* और साहित्य की जो सेवा की उस पर किसी भी संस्था को गौरव हो सकता है। सभा ने संयुक्त प्रांत के न्यायालयों में हिंदी को स्थान दिलाया, हिंदी के प्राचीन ग्रंथों का अनुसंधान करके उन्हें प्रकाशित कराया, पारितोषिक देकर उच्च कोटि के साहित्य-प्रकाशन को प्रोत्साहन प्रदान किया, हिंदी में विज्ञान-संबंधी शब्दों की रचना करके "हिंदी वैज्ञानिक कोश" निर्माण कराया और "हिंदी-शब्दसागर" के सदृश वृहत् और महत्त्वपूर्ण शब्दकोश बनवाकर प्रकाशित किया। इस प्रकार हिंदी-साहित्य क्षेत्र के निर्माण का बहुत कुछ प्रारंभिक कार्य इसी सभा के द्वारा हुआ है। काशी *नागरी-प्रचारिणी सभा* के *प्राण राय बहादुर* श्यामसुंदरदास थे। उनमें संगठन करने और संस्था का सुचारु रूप से संचालन करने की अपूर्व क्षमता थी। वे लोगों से काम लेना खूब जानते थे। अतः नागरी-प्रचारिणी सभा की सफलता का प्रायः संपूर्ण श्रेय बाबू साहब ही को प्राप्त था। इस हेतु हिंदी-जगत् बाबू साहब का चिर ऋणी और कृतज्ञ रहेगा। नागरी-प्रचारिणी सभा के विशाल कार्य क्षेत्र के अतिरिक्त बाबू श्यामसुंदरदास ने ग्रंथ-रचना के क्षेत्र में भी

महत्त्वपूर्ण ही नहीं युगप्रवर्तक कार्य किया है और हिंदी के अनेक रिक्त अंगों की पूर्ति की है। कालेजों की उच्च कक्षाओं के उपयुक्त ग्रंथों के नितांत अभाव का बाबू साहब को उस समय अनुभव हुआ था जब वे पहले पहल काशी विश्वविद्यालय में हिंदी-विभाग की स्थापना करने और हिंदी शिक्षा का कार्यक्रम बनाने के लिये पूज्य मालवीयजी द्वारा बुलाए गए थे। सर्वप्रथम बाबू साहब ने ही समझा कि प्रचलित बाज़ारी समालोचनाओं से काम न चलेगा, इसलिये उन्होंने 'साहित्यालोचन' लिखकर आलोचना-संबंधी गंभीर सिद्धांतों को अच्छी तरह समझाया। साहित्यालोचन में पश्चिम और पूर्व के साहित्य-तत्त्व का मार्मिक और तुलनात्मक विवेचन किया गया है। इन्हीं सिद्धांतों का व्यावहारिक रूप दिखलाते हुए बाबू साहब ने हिंदी कवियों पर आलोचनात्मक निबंध लिखे जिनमें 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' और 'तुलसीदास की जीवनी' मुख्य हैं। साहित्यिक आलोचना के उन्हीं सिद्धांतों को और अधिक स्पष्ट करते हुए आपने 'हिंदी भाषा और साहित्य' नाम का एक आदरणीय ग्रंथ लिखा जो डाक्टर ग्रियर्सन जैसे भाषाशास्त्रियों द्वारा प्रशंसित और आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा पुरस्कृत हुआ। साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं भाषा के क्षेत्र में भी आपने महत्त्वपूर्ण अनुसंधान की नींव डाली थी जिसका निदर्शन आपका 'भाषा विज्ञान' नामक ग्रंथ है। इस प्रकार उच्च श्रेणी के पाठकों और विद्यार्थियों के उपयुक्त ग्रंथ रचना का मार्गिक कार्य आपने ही किया और अब तक आप ही इस क्षेत्र के सर्वप्रमुख व्यक्ति थे। प्रसन्नता की बात है कि आपकी देखरेख शिक्षा में काम करनेवाले अनेक विद्वान् इस समय हिंदी में वर्तमान हैं जिन्हें आप अपनी रचनाओं से तथा व्यक्तिगत रीति से भी प्रेरणा करते रहते थे। काशी विश्वविद्यालय हिंदी-शिक्षा का प्रधान केंद्र हो रहा है और वहाँ से शिक्षा प्राप्त अनेक नवयुवक हिंदी के क्षेत्र में गौरवपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इसका अधिकांश श्रेय बाबू साहब को ही प्राप्त है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने

'सरस्वती' द्वारा 'भाषा-संस्कार' का जैसा युगपरिवर्तन-कारी उद्योग किया, वैसा ही उद्योग बाबू साहब ने 'साहित्यसंस्कार' का किया और ये ही दोनों महानुभाव वर्तमान हिंदी-साहित्य की सबसे उज्ज्वल तथा श्रेय-कारिणी विभूतियाँ हैं। नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने यहाँ 'भारत-कला-भवन' खोलकर भारत की प्राचीन कला-सामग्री की रक्षा का भी स्तुत्य प्रयत्न किया है, जिसका श्रेय राय कृष्णदास को है। सभा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' नाम की एक पुरातत्व खोज-विषयक त्रैमासिक पत्रिका भी निकालती है, जिसका विद्वन्मंडली में समुचित सम्मान है।

जिस समय प्रयाग की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का जन्म हुआ उस समय हिंदी में उच्च कोटि की विशुद्ध साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्राय सर्वथा अभाव था। संपादकप्रवर पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के संपादकत्व में 'सरस्वती' ने हिंदी-साहित्य की प्रगति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। उस समय खड़ीबोली हिंदी-गद्य की सर्वमान्य रूप से और पद्य की आंशिक रूप से भाषा बन चुकी थी, परंतु अभी तक उसके संस्कार का प्रयत्न आरम्भ नहीं हुआ था। द्विवेदीजी के समान व्याकरणविद् और प्रामाणिक विद्वान् के हाथों में जाकर 'सरस्वती' ने भाषा-संस्कार का महान् कार्य संपादन किया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि श्री द्विवेदीजी ने खड़ीबोली को हिंदी-पद्य में प्रतिष्ठित करने में कितना अधिक कार्य किया है। परंतु हिंदी-गद्य की भाषा को भी परिमार्जित करने का गौरवमय श्रेय भी श्री द्विवेदीजी को ही है। उन्होंने भाषा को काट-छाँटकर सुसंस्कृत बनाया, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा की, सैकड़ों नवीन लेखकों को प्रोत्साहन दिया और पाश्चात्य सभ्यता के प्रेमी सैकड़ों नवयुवकों को अँगरेजी की ओर से हटाकर हिंदी की ओर आकर्षित किया। हिंदी-साहित्य के अनेकों वर्तमान सुप्रसिद्ध लेखक और कवि 'सरस्वती' की ही गोद में पलकर बड़े हुए। उन्होंने द्विवेदीजी से ही साहित्य की प्रथम दीक्षा ग्रहण की थी। द्विवेदीजी की

लेखन शैली मध्यम श्रेणी की है। उसमें न तो संस्कृत शब्दों का बाहुल्य रहता है और न उर्दू शब्दों की प्रचुरता। उनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित रहती है, परंतु उसमें आवश्यकतानुसार उर्दू शब्दों का भी यथोचित समावेश होता है।

इस प्रकार काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना और 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन से हिंदी-गद्य की उन्नति का पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। भाषा में प्रौढ़ता आई, वह सामर्थ्यवती हुई और उसमें अनेक सुंदर शैलियों का आविर्भाव हुआ। जिस प्रकार उर्दू में लखनऊ और देहली के दो केंद्रों की विभिन्न शैलियाँ हैं उस प्रकार हिंदी में स्थान भेद के अनुसार शैली भेद तो नहीं हुआ पर कितनी ही व्यक्तिगत शैलियाँ उत्पन्न हुई, जो आगे चलकर व्यापक शैलियाँ बन गईं और इधर उधर घूम फिरकर कुछ स्थानों पर जा अटकीं, जिनसे स्थान भेद का उपक्रम प्रारंभ हो गया। इस समय स्थूल रूप से तीन भिन्न स्थानों में तीन भिन्न शैलियों के रूप स्पष्टतः दीखते हैं। काशी के अधिकांश लेखक संस्कृत बहुल भाषा का प्रयोग करते हैं। देहली की ओर के लेखक-गण अपनी भाषा में उर्दू फारसी के साधारण शब्दों का स्वतंत्रता पूर्वक व्यवहार करते हैं। लखनऊ और कानपुर के साहित्यिकों पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा, अतः उन्होंने मध्य मार्ग का अवलंबन किया। उनकी भाषा में संस्कृत शब्द रहते हैं परंतु उर्दू शब्दों का भी यथोचित समावेश रहता है। यह शैली अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुई है। इसके अतिरिक्त हास्य विनोद, बहस मुबाहसा, व्यंग, व्याख्यान, वर्णन, उपन्यास, कहानी आदि विभिन्न विषयों के उपयुक्त कितनी ही शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ है और हो रहा है। बहुत सी न्यूनताओं के रहते हुए भी इन शैलियों से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि विभिन्न विषयों का यथोचित रूप में प्रकट करने की क्षमता भाषा में उपस्थित है। देश में उच्च शिक्षा का माध्यम अँगरेजी है। आजकल अँगरेजी के उच्च शिक्षा-प्राप्त अने-

विद्वान् हिंदी की ओर झुक रहे हैं, जिसके कारण भाषा पर अँगरेजी रचना-प्रणाली का विशेष प्रभाव कदाचित् आवश्यकता से अधिक पड़ रहा है। न केवल अँगरेजी के सहस्रों शब्द अनुवादित होकर हिंदी के शब्द-भांडार में प्रवेश कर रहे हैं, वरन् अँगरेजी पद-विन्यास तक की छाया हिंदी में दृष्टिगोचर होने लगी है। इस प्रकार हिंदी में कितनी ही शैलियों का विकास हुआ और हो रहा है। मासिक पत्रिकाओं के निकलने से सामयिक साहित्य की अच्छी अभिवृद्धि हुई। राजनीति के आंदोलन के फल-स्वरूप हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग किया जा रहा है। राजनीतिक आंदोलन और शिक्षा की उन्नति के साथ ही पत्र-पत्रिकाएँ बढ़ती जा रही हैं। साहित्य के सब अंग भर रहे हैं। विश्व विद्यालयों में हिंदी उच्चतम कक्षाओं में पढ़ाई जाने लगी है। विविध विषयों की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।

समालोचना—भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से ही साहित्यिक समालोचना होने लगी थी, पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय से उसका स्वरूप निश्चित हुआ। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ अधिकांश निर्णयात्मक होती थीं। सरस्वती में पुस्तकों की भी और संस्कृत तथा हिंदी के कुछ कवियों की भी द्विवेदीजी ने समालोचनाएँ लिखीं। द्विवेदीजी की चलाई हुई पुस्तक समीक्षा की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण अब तक मासिक पत्रिकाओं में हो रहा है। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ भाषा की गड़बड़ी को दूर करने में बहुत सहायक हुईं, साथ ही आलोचना में संयत होकर लिखने का ढंग भी प्रतिष्ठित हुआ। द्विवेदीजी के समकालीन समालोचकों में मिश्रबंधुओं का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनका हिंदी-साहित्य का इतिहास-ग्रंथ अपने ढंग की पहली रचना होने के कारण बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु हुई। "हिंदी-नवरत्न" में कवियों की समालोचना का सूत्रपात हुआ। उनकी आलोचनाओं के संबंध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है और है भी, पर समालोचना का कार्य आरंभ करने के कारण मिश्र-बंधुओं का हिंदी-साहित्य पर

हुए है और उसे स्वीकार न करना कृतघ्नता माना जायगा। इस बात का बिना ध्यान रखे कि सब बातों में क्रमिक विकास होता है, पूर्व कृतियों को तुच्छ मानना जहाँ अनुचित है वहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि हमारे ज्ञान तथा अनुभव की वृद्धि निरंतर होती रहती है, इसलिये साहित्य के विद्यार्थियों समालोचक तथा निर्माताओं का अपने अपने मतों को वेदवाक्य मान बैठना, नवाविष्कृत तथ्यों की अवहेलना करना तथा भिन्न मत रखनेवालों को हेय समझना साहित्य के भावी विकास और उन्नति के लिये हितकर न सिद्ध होगा।

हिंदी के कवियों पर आलोचनात्मक लेख और पुस्तक लिखनेवालों में पंडित पद्मसिंह शर्मा और पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र के नाम उल्लेख्य हैं। हिंदी में तुलनात्मक आलोचना शैली का आविष्कार पंडित पद्मसिंह शर्मा ने किया था। यह वस्तुतः एक नई चीज थी। पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने इस विषय को आगे बढ़ाया है। शर्माजी की शैली का अनुकरण अन्य लोगों ने न किया हो यह दूसरी बात है, परंतु यह शैली रुक सी रही है। शर्माजी की भाषा उर्दू मिश्रित और चुटीली होती है। मिश्रजी की भाषा सरल और गंभीर है।

अंगरेजी ढंग की गंभीर आलोचनाएँ लिखनेवालों में राय बहादुर श्यामसुन्दरदास और पंडित रामचंद्र शुक्ल प्रमुख हैं। समालोचना संबंधी सिद्धांतों का निरूपण करने और हिंदी भाषा के स्वरूप से परिचय कराने में बाबू साहब का स्तुत्य उद्योग था। जायसी, तुलसी, सूर आदि कवियों पर शुक्लजी के निबंध सुंदर विश्लेषणात्मक आलोचना के रूप में लिखे गए हैं, जिनसे कवियों के मानसिक और कलात्मक विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। विश्वविद्यालयों की उच्च श्रेणियों में पढ़ाई जाने योग्य समालोचनाओं में शुक्लजी की समालोचनाएँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हुई हैं। बाबू साहब का 'हिंदी भाषा और साहित्य' हिंदी के इतिहास की सबसे प्रामाणिक, विद्वत्तापूर्ण और निष्पक्ष कृति है। बाबू पदुमलाल बख्शी ने भी दो-एक समालोचनात्मक पुस्तकें

लिखकर हिंदी के विकास-क्रम को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मासिक पत्रिकाओं में समालोचनाएँ लिखने का ढंग अधिक उत्सुक और प्रशंसनीय होता जा रहा है। पहले की अपेक्षा व्यक्तिगत आक्षेपों की बहुत कुछ कमी हो गई है। कदाचित् यह कह देना अनुचित न होगा कि समालोचना का काम बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसे सफलता पूर्वक करना सबका काम नहीं है।

नाटक—अन्य सभी साहित्यों में नाटकों का विवेचन रंगशाला के नियमों, प्रतिबंधों आदि को लेकर होता है। अँगरेजी के अनेक विद्वान् समालोचक तो रंगशाला के अनुपयुक्त नाटकों को नाटक कहते ही नहीं। उन देशों में रंगशालाएँ बहुत अधिक विकसित हो चुकी हैं और प्रत्येक नाटककार उनके नवीनतम विकास से परिचित होना आवश्यक समझता है। नवीन विकास के कारण जो पुरानी नाटकीय रचनाएँ आधुनिक रंगमंच के अनुपयुक्त हो गई हैं, अथवा पिछड़ी हुई देख पड़ने लगी हैं, उनको निम्न स्थान दिया जाता है। स्वयं शेक्सपियर के नाटक भी रंगमंच की दृष्टि से पुराने हो गए हैं अतः कम खेले जाते हैं, अथवा सुधारकर खेले जाते हैं। हिंदी के लिये यह बड़ी लज्जा की बात है कि अब तक वह पारसी रंगमंच के ही हाथों में पड़ी हुई है, उसकी अपनी रंगशालाएँ या तो हैं ही नहीं अथवा मृतक सी हैं। व्यावसायिक रंगमंच तो हिंदी में कदाचित् एक भी नहीं। हम लोग अब तक नाटक खेलने को नटों का तुच्छ काम समझते हैं। अनेक आधुनिक नाटककार घर पर कल्पना के द्वारा नाटकीय प्रतिबंधों पर विचार करते हैं, रंगशालाओं में जाकर नाटक देखकर या खेलकर अपने अनुभव की वृद्धि नहीं कर पाते। पारसी रंगमंच अपने पुराने अवगुणों को लिए हुए चला जा रहा है। वही अलंकरणाधिक्य, अस्वाभाविक भाषा और वही अस्वाभाविक भापण ! हिंदी की जो दो-एक नाटक-मंडलियाँ हैं, वे तिथि-त्योहारों पर कुछ खेल खेलकर ही संतोष कर लेती हैं। यह स्थिति बड़ी ही शोचनीय है। बँगला, मराठी,

गुजराती आदि भाषाओं के रंगमंच विशेष उन्नत हैं और प्रतिदिन उन्नति करते जाते हैं। ऐसी अवस्था में राष्ट्रभाषा हिंदी पर गर्व करने वालों का मस्तक अवश्य नीचा होता है। हिंदी-भाषी धनिकों को चाहिए कि यथासंभव शीघ्र नाटक-मंडलियों की स्थापना करें और हिंदी-भाषी विद्वानों को चाहिए कि वे यथासंभव शीघ्र अभिनय-कार्य को अपने हाथ में लें, उसे नटों का काम ही न समझे रहें। साथ ही हिंदी भाषी जनता को चाहिए कि वह हिंदी नाटक मंडलियों के नाटक देखकर उन्हें प्रोत्साहन दे।

आधुनिक नाटककारों में बाबू जयशंकर प्रसाद, पंडित बदरीनाथ भट्ट, पंडित गोविन्दवल्लभ पंत आदि प्रसिद्ध हैं। बाबू प्रेमचंदजी ने 'संग्राम' और 'कर्बला' नाम के दो नाटक लिखे हैं जिनमें उन्हें सफलता नहीं हुई। पंडित गोविंदवल्लभ पंत को रंगमंच का अच्छा अनुभव है और उनकी 'वरमाला' हिंदी नाटकों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पौराणिक आधार पर लिखी गई प्रेम की यह कथा पंतजी की कवित्व शक्ति से चमक उठी है और नाटक के उपयुक्त हो गई है। पंडित बदरीनाथ भट्ट के नाटक व्यंग्य और विनोद की दृष्टि से हिंदी में अपने ढंग के अच्छे हैं, पर जहाँ व्यंग्य और विनोद नहीं है वहाँ का कथोपकथन शिथिल और उखड़ा हुआ जान पड़ता है और कहीं कहीं हास्य और विनोद भी निम्न श्रेणी का हो गया है। श्रीवास्तवजी के प्रहसनों की बड़ी धूम है, पर हमारी दृष्टि में वे कुरुचि उत्पन्न करनेवाले हैं, उनका विनोद बहुत निम्न कोटि का है और उनका प्रभाव नवयुवकों पर अच्छा नहीं पड़ता। बाबू जयशंकर प्रसाद के आठ-दस नाटक हैं। उनमें से अधिकांश ऐतिहासिक हैं। प्रसादजी ने प्राचीन इतिहास का अच्छा अध्ययन किया है और प्राचीन भारतीय समाज के तिरस्कृतप्राय चित्रों को दिखलाने में उनकी क्षमता प्रशंसनीय है। देश और काल के उपयुक्त वस्तु निर्माण करना प्रसादजी की विशेषता है। मानसिक वृत्तियों को पात्रों का स्वरूप देकर लिखा हुआ

उनका "कामना" नाटक हिंदी में अपने ढंग का अद्वितीय है। हमारी सम्मति में चित्तवृत्तियाँ इतनी जटिल और एक दूसरी से ऐसी अविच्छिन्न भाव से मिली हुई रहती हैं कि उन्हें अलग करके दिखाने में कृत्रिमता आ ही जाती है। उनका 'एक घूँट' नाम का एकांकी नाटक सिद्धांत-प्रतिपादन की दृष्टि से अच्छा है, पर नाटकीय दृष्टि से त्रुटि-पूर्ण है। सिद्धांतों को अग्र स्थान मिल गया है, कथोपकथन में नाटकीय प्रभाव लुप्त हो गया है। फिर भी इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि नाटकों के क्षेत्र में प्रसादजी की रचनाएँ बड़े महत्त्व की हैं और अब तक के नाटककारों में वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

उपन्यास—'परीक्षागुरु' के उपरांत हिंदी के उपन्यासों में 'चंद्रकांता संतति' का नाम आता है। बाबू देवकीनंदन खत्री की इस रचना का उस समय इतना अधिक स्वागत किया गया कि अब हमारे लिये वह आश्चर्य की बात हो गई है। लाखों निरक्षरों और उर्दूदाँ लोगों ने 'चंद्रकांता संतति' पढ़ने के लिये हिंदी सीखी। चंद्रकांता के अनुसरण में हिंदी में अनेक उपन्यास लिखे गए। इनके अनंतर गहमरीजी के जासूसों का युग आया। उनके अनेक उपन्यास अनुवादित हैं कुछ मौलिक भी हैं। घटनाओं की ओर आकर्षण रहता है, चरित्र के विकास का कहीं पता नहीं रहता, भाषा भी मामा बेहाली रहती है। इसी समय के लगभग बँगला के कुछ अच्छे उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद हुआ जिससे साहित्यिक उपन्यासों की मौलिक रचनाएँ भी होने लगीं। पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने इस ओर पहले पहल प्रयत्न किया। उनकी रचनाएँ साहित्यिक हैं, पर भाषा की दृष्टि से सफल नहीं हुई हैं। गोस्वामीजी ने अब तक पचासों उपन्यास लिखे होंगे और उनका थोड़ा बहुत प्रचार भी है। उनके उपन्यास अधिकांश घटना विशिष्ट हैं, पात्रों के चरित्र विकास की ओर कम ध्यान दिया गया है। कहीं कहीं कालदोष भी खटकता है। आधुनिक उपन्यास-समीक्षा के अनुसार गोस्वामीजी के उपन्यासों का बहुत कम साहित्यिक मूल्य है।

उनका विकास और परिहास कहीं कहीं अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाता है।

हिंदी उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंदजी की रचनाओं ने युगांतर उपस्थित कर दिया। हिंदीवालों ने उनके पहले मौलिक उपन्यास 'सेवा-सदन' का उत्सुकता के साथ स्वागत किया और 'प्रेमाश्रम' निकलते ही वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार कहलाने लगे। सामाजिक भावों का प्रतिबिंब इनकी सफलता का मूल कारण है। 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'प्रतिज्ञा', 'गबन' आदि उनके कितने ही छोटे-बड़े उपन्यास निकल चुके हैं। प्रेमचंदजी ने देहाती समाज का बड़ा अच्छा अनुभव प्राप्त किया था और उनके गुण-दुर्गुणों को वे समझते थे। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के उद्देश्य से उन्होंने व्यंग्य शैली स्वीकृत नहीं की, मीठी चुटकियों का प्रयास किया है। मानसिक वृत्तियों के उत्थान पतन का सुंदर चित्र अंकित करने में प्रेमचंदजी की प्रसिद्धि है। वर्णन की अपूर्व शक्ति प्रेमचंदजी को मिली थी, इस बात में वे संसार के बड़े बड़े उपन्यासकारों के समकक्ष हैं। प्रेमचंदजी के उपन्यासों में 'आदर्शवाद' की ओर अधिक ध्यान दिया गया, यथार्थवाद का उतना विचार नहीं रखा गया। दोनों का उपयुक्त सम्मिश्रण कदाचित् उनके उपन्यासों के महत्त्व को और भी बढ़ा देता। कहीं कहीं, विशेषकर 'रंगभूमि' में आवश्यकता से अधिक विस्तार किया गया है। यह उपन्यास दो भागों में न होकर एक ही भाग में समाप्त हो जाता तो अधिक रुचिकर होता। पंडित विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक के 'मा' उपन्यास में चरित्र-चित्रण का बड़ा ही मनोहर रूप देख पड़ता है।

जयशंकर प्रसादजी 'कंकाल' नामक उपन्यास का निर्माण के नाम के अनुकूल हुआ है। समस्त उपन्यास के पढ़ जाने पर हमें समाज के अंग चित्र का उद्घाटन रुचिकर नहीं हुआ। नवयुवक लेखकों में भी श्री जैनेंद्रकुमार की 'परख' अच्छी दृष्टि से देखी जाती है।

आख्यायिका—आधुनिक हिंदी की आख्यायिकाएँ संस्कृत के हितोपदेश अथवा राजतरंगिणी के ढंग पर नहीं लिखी गई, अँगरेजी की छोटी कहानियों की शैली पर लिखी गई हैं। घटनाओं की सहायता से पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं को चित्रित करना आजकल की कहानियों का मुख्य लक्ष्य हो रहा है। समाज की कुरीतियों के प्रदर्शनार्थ भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, ऐतिहासिक तत्त्वों पर प्रकाश डालने की दृष्टि से भी कहानियाँ लिखी जाती हैं और दार्शनिक कहानियाँ भी लिखी जाती हैं। कहानियों में न तो घटनाओं का क्रम अधिक जटिल होता है और न जीवन के बड़े बड़े चित्र दिखाए जाते हैं। हिंदी में आख्यायिकाओं का आरंभ करनेवाले गिरिजाकुमार घोष नामक सज्जन थे। उनके उपरांत भी ज्वालादत्त शर्मा, बाबू जयशंकर प्रसाद, श्री प्रेमचंदजी, कौशिकजी, सुदर्शनजी, हृदयेशजी आदि कहानी लेखक हुए। प्रसादजी की आख्यायिकाएँ कवित्व-पूर्ण होती थीं। उनकी कुछ कहानियों में प्राचीन इतिहास की खोई हुई बातों की खोज की गई है, कुछ में मनस्तत्त्व की सूक्ष्म समस्याएँ समझाई गई हैं और कुछ में व्यक्ति का व्यक्तित्व स्पष्ट किया गया है। प्रसादजी की भाषा कहानियों के बिलकुल उपयुक्त नहीं है और भावों की झोंक में कहीं कहीं कृत्रिमता आ जाती है। प्रेमचंदजी की कहानियों में सामाजिक समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उनकी भाषा-शैली कहानियों के बहुत उपयुक्त हुई है और उनके विचार भी सब पढ़े-लिखे लोगों के विचारों से मिलते-जुलते हैं। यही कारण है कि प्रेमचंदजी की कहानियाँ सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। प्रेमचंदजी और जयशंकर प्रसादजी की आख्यायिकाओं में बड़ा भारी अंतर यह है कि एक में घटनाओं की प्रधानता रहती है और दूसरी में कोरे भावों की। कौशिकजी की कहानियों में पारिवारिक जीवन के बड़े ही मार्मिक और अच्छे चित्र हैं। उनका क्षेत्र सीमाबद्ध है, पर अपनी सीमा के भीतर वे अद्वितीय हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सुदर्शनजी ने पाश्चात्य कथा

साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। भारतीय आदर्शों की रक्षा करने की उनकी चेष्टा प्रशंसनीय है। उनकी कहानियाँ सरल और रोचक होती हैं। हृदयेशजी की कहानियों में कवित्व है, पर उनकी भाषा अस्वाभाविक असंस्कृत तथा उनके भाव कहीं कहीं नितांत कल्पित हो गए हैं। अन्य कहानी-लेखकों में 'अंतस्तल' के लेखक श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री राय कृष्णदास आदि हैं। उग्रजी की वे कहानियाँ अच्छी हैं जिनमें उद्दाम अश्लीलता नहीं आने दी है। उनकी भाषा अच्छी होती है। हिंदी की छोटी कहानियों या गल्पों का भविष्य उज्ज्वल जान पड़ता है। थोड़े ही समय में इस क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई है।

निबंध—हिंदी में अब तक निबंधों का युग नहीं आया है। समालोचनात्मक निबंधों के अतिरिक्त हिंदी के अन्य सभी निबंध साधारण कोटि के हैं। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र के निबंध हिंदी की बाल्यावस्था के हैं। उनमें विनोद आदि चाहे जो कुछ हो, वे साहित्य की स्थायी संपत्ति नहीं हो सकते। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में विचारों की मात्रा कहीं कहीं विशृंखल हो गई है। द्विवेदीजी को संपादन-काम में इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि उनके स्वतंत्र निबंधों को देखकर हमें आश्चर्य ही होता है। भावात्मक निबंध लिखनेवालों में स्वर्गीय सरदार पूर्णसिंह का स्थान सबसे अधिक महत्त्व का है, पर थोड़े ही दिन बाद सरदारजी हिंदी को छोड़कर अँगरेजी की ओर झुक गए थे। श्रीयुत गुलाबराय और श्रीयुत कन्नोमल के दार्शनिक निबंध भी साधारणतः अच्छे हुए हैं। निबंधों के क्षेत्र में पंडित रामचंद्र शुक्ल का सबसे अलग स्थान है। मानसिक विश्लेषण के आधार पर उन्होंने करुणा, क्रोध आदि मनोवेगों पर अनेक अच्छे निबंध लिखे हैं। विवरणात्मक निबंध लेखकों ने यात्रा, भ्रमण आदि पर जो कुछ लिखा है, वह सब मध्यम श्रेणी का है। तात्पर्य यह कि निबंधों की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हिंदी साहित्य के इस अंग की पुष्टि की ओर सुलेखकों का ध्यान जाना

चाहिए। इन दिनों साहित्यिक विषयों पर भी निबंध लिखे जा रहे हैं और उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण भी हैं।

साहित्यिक पत्रिकाएँ—हिंदी की उच्च कोटि की साहित्यिक पत्रिकाओं में सबसे पहले प्रयाग से सरस्वती प्रकाशित हुई। प्रथम वर्ष में इसके संपादन का भार काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के पाँच सभासदों के हाथ में रहा। द्वितीय और तृतीय वर्ष में इसका संपादन बाबू श्यामसुंदरदास करते रहे। चौथे वर्ष से इसके संपादन का भार सेवाहक प्रवर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथ में गया और बीस वर्षों से अधिकांश तक वे इस कार्य को करते रहे। उनके समय में इस पत्रिका ने बड़ी उन्नति की और हिंदी भाषा तथा साहित्य के हितसाधन में सफल हुई। सरस्वती के अनंतर माधुरी, सब सुधा और विशालभारत मासिक पत्रिकाएँ निकलने लगीं। इन सब ने हिंदी की अमूल्य सेवा की और अब तक वे उस काम को निरंतर कर रही हैं। यही हिंदी की इस समय प्रमुख मासिक पत्रिकाएँ हैं। त्रैमासिक पत्रिकाओं में नागरी प्रचारिणी पत्रिका प्रमुख है जिसमें प्राचीन शोध-संबंधी लेख मुख्यतया रहते हैं। इस विषय की यह हिंदी में एक ही पत्रिका है और काशी नागरीप्रचारिणी सभा की मुख-पत्रिका होने पर भी वह उस संस्था के कार्यों की सूचना देने ही की ओर उतना ध्यान नहीं देती और न वाद-विवाद में ही पड़ती है। सन् १९११ में हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा "हिंदुस्तानी" नाम की "तिमाही" पत्रिका निकलने लगी है, जिसमें उच्च कोटि के लेख निकलते हैं। इस पत्रिका का भविष्य उज्ज्वल देख पड़ता है।

गद्य-शैली का विकास—यों तो गद्य का विकास बहुत प्राचीन काल में हुआ था, परंतु तारतम्य उस समय से आरंभ हुआ जिस समय मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल ने अपनी रचनाएँ कीं। उस समय की शैली की अवस्था वही थी जो वस्तुतः आरंभिक काल में होनी चाहिए। जिन लोगों ने गद्य का

आधार संस्कृत से लिया, उनकी भाषा में भी संस्कृत की छाप लग गई। इस काल में कथा-कहानी की ही रचनाएँ हुईं। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह प्रारंभिक काल था। न तो भाषाशैली में बल का संचार हुआ, न उसका कोई संयत रूप स्थिर हुआ और न पाठकों में इतनी शक्ति उत्पन्न हुई थी कि गवेषणात्मक रचनाओं का अध्ययन कर सकें। इन लेखकों में भी दो दल स्पष्ट दिखाई पड़ते थे। एक ने तो संभवतः प्रतिज्ञा कर ली थी कि उर्दूपन—उर्दू ढंग की वाक्य-रचना एवं शब्द-योजना—का पूर्ण बहिष्कार किया जाय और दूसरे ने उर्दूपन लेकर शैली को चमत्कारपूर्ण बनाने की चेष्टा की। अभी तक न तो शब्दों का रूप ही स्थिर हुआ था और न भाषा का परिमार्जन ही हो सका था। व्याकरण की ओर तो आँख उठाना ही अस्वाभाविक या अनावश्यक ज्ञात होता था। मुहावरों के प्रयोग से कुछ चमत्कार अवश्य उत्पन्न हो रहा था। जिन लोगों ने मुहावरों और उर्दूपन का एकदम बहिष्कार किया उनकी भाषा गंभीर भले ही रही हो परन्तु उसका आकर्षण और चमत्कार अवश्य नष्ट हो गया था। इस समय के प्रायः सभी लेखकों में प्राचीनता स्पष्ट झलकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि यह प्रारंभिक काल था तो वे सभी अवस्थाएँ रचना शैली में उपस्थित थीं जो स्वाभाविक रूप में उस समय होनी चाहिए थीं।

इसके उपरांत लगभग पचास वर्षों तक हिंदी का काम भारतवर्ष के धर्म प्रचारक ईसाइयों के हाथ में था। उस समय की रचनाओं को देखने से विदित होता है कि इन ईसाइयों ने उर्दूपन का घोर विरोध किया और अपनी रचनाओं में पूर्ण रूप से हिंदीपन का ही निर्वाह किया। न तो शब्दयोजना ही में उर्दूपन दिखाई पड़ता है और न वाक्य विन्यास ही में। आवश्यकता पड़ने पर इन लोगों ने ग्रामीण शब्दों तक का व्यवहार किया परंतु उर्दू के शब्दों का नहीं। यह स्पष्ट विदित होता है कि इन लोगों ने सचेष्ट होकर, उर्दूपन को दूर रखकर, भाषा का रूप शुद्ध रखा।

इधर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के गद्यक्षेत्र में आते ही पुनः हिंदी और उर्दू का द्वंद्व आरंभ हुआ। साधारण रूप से विचार करने पर तो यही कहा जा सकता है कि उस समय तक न तो व्याकरण के नियमों का ही निर्वाह दिखाई पड़ता था और न भाषा का ही कोई रूप स्थिर हो सका था। रचना का विकास अवश्य हो रहा था, पठन-पाठन के विस्तार से अनेक विषयों में गद्य की पहुँच आरंभ हो गई थी, और कितने ही विषयों पर पुस्तकें लिखी जा रही थीं हिंदी-गद्य का कुछ रूप व्यापक अवश्य हो रहा था। उसमें भाव भाव-द्योतन का क्रमशः विकास होने लगा था। इस समय प्रधान बात हिंदी उर्दू का झगड़ा था। राजा शिवप्रसाद को सभी रचनाओं में उर्दूपन घुसेड़ने की धुन समाई थी। उनको विश्वास था—संभव है ऐसा विश्वास करने के लिये वे बाध्य किए गए हों—कि यदि उर्दूपन का बहिष्कार किया जायगा तो भाषा की व्यावहारिकता नष्ट हो जायगी और उसमें भाव-द्योतन का चमत्कार और बल न आ सकेगा। यह विचार राजा लक्ष्मणसिंह को ठीक न जँचा। अतः उन्होंने इसके विरोध में अपनी रचनाओं में भाषा का रूप पूर्ण शुद्ध ही रखा। ऐसा करके उन्होंने यह स्पष्ट दिखा दिया कि उर्दूपन से दूर रहकर भी भाव बड़ी सरलता से प्रकाशित किए जा सकते हैं, ऐसी अवस्था में भी चमत्कार उपस्थित किया जा सकता है, बिना उर्दूपन का सहारा लिए ही सुंदर से सुंदर रचनाएँ की जा सकती हैं।

इस द्वंद्व का निरीक्षण बाबू हरिश्चंद्र भली भाँति कर रहे थे। सोच-विचार करने के उपरांत उन्होंने मध्यम मार्ग के अवलंबन का निश्चय किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में भाषा का बड़ा व्यावहारिक रूप रखा। न उन्होंने उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार ही किया और न वे उर्दू-ए-मुअल्ला के पक्षपाती ही बने। जहाँ उन्होंने उर्दू के शब्दों का व्यवहार किया वहाँ उनका तद्भव रूप ही रखा। इस काल में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। हिंदी का व्यवहार-क्षेत्र अब

अधिक व्यापक होने लगा था। भारतेंदुजी के अनेक सहयोगी तैयार हो गए थे। वे सभी दक्ष पत्र-संपादक और लेखक थे। इन लोगों के हाथों से भाषा का रूप बहुत कुछ परिमार्जित हो गया। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में भाव-व्यंजना की सुंदर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली का अनुसरण हुआ। इनकी शैलियों में चलतेपन और व्यावहारिकता का बड़ा ही आकर्षक सामंजस्य उपस्थित हुआ। पंडित बदरीनारायण चौधरी और पंडित गोविंदनारायण मिश्र की लेखनी से इस प्रकार की रचनाएँ निकलीं जो इस बात की घोषणा करती थीं कि अब भाषा में किसी प्रकार केवल भाव-प्रकाशन की ही शक्ति नहीं है वरन् उसमें आलंकारिक रूप से उत्कृष्ट रचना भी की जा सकती है। इस प्रकार के लेखकों में व्यावहारिकता अवश्य नष्ट हुई है, परन्तु भाषा का एक शक्तिशाली स्वरूप दिखाई पड़ा। इतना होते हुए भी प्रत्येक पाठक यह देख सकता है कि इस काल में भी व्याकरण की अवहेलना की गई। भाषा का मार्ग निश्चित तो हो गया, परंतु उसमें सौष्ठव अभी तक न आ सका था। इस समय भी ऐसे लेखक उपस्थित थे जो विरामादिक चिह्नों का प्रयोग ही नहीं करते थे और इस कारण उनकी रचनाओं में व्यर्थ ही अस्पष्टता आ जाती थी। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाव-व्यंजना की कई शैलियाँ इस समय अवश्य गद्य-क्षेत्र में उपस्थित हुईं और उनमें एक शक्तिशाली रूप अवश्य दिखाई पड़ा, परंतु भाषा का सम्यक् परिमार्जन न हो सका और व्याकरण-विहित शुद्ध रचनाएँ न की जा सकीं।

जो कमी इस समय रह गई थी उसकी पूर्ति आधुनिक काल में हुई। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखकों की तत्परता एवं चेष्टा से व्याकरण-संबंधी त्रुटियों का सुधार हुआ। शब्दों का वास्तविक शुद्ध प्रयोग और व्यवहार इस काल की विशेषता है। इस समय अनेक विषयों पर सुंदर और पुष्ट रचनाएँ की गईं। यों तो भारतेंदु हरिश्चंद्र के ही काल में नाटक, उपन्यास, निबंध इत्यादि लिखने का

इधर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के गद्यक्षेत्र में आते ही पुनः हिंदी और उर्दू का द्वंद्व आरंभ हुआ। साधारण रूप से विचार करने पर तो यही कहा जा सकता है कि उस समय तक न तो व्याकरण के नियमों का ही निर्वाह दिखाई पड़ता था और न भाषा का ही कोई रूप स्थिर हो सका था। रचना का विकास अवश्य हो रहा था, पठन-पाठन के विस्तार से अनेक विषयों में गद्य की पहुँच आरंभ हो गई थी, और कितने ही विषयों पर पुस्तकें लिखी जा रही थीं हिंदी-गद्य का कुछ रूप व्यापक अवश्य हो रहा था। उसमें अब भाव-द्योतन का क्रमशः विकास होने लगा था। इस समय प्रधान बात हिंदी उर्दू का झगड़ा था। राजा शिवप्रसाद को सभी रचनाओं में उर्दूपन घुसेड़ने की धुन समाई थी। उनको विश्वास था—संभव है ऐसा विश्वास करने के लिये वे बाध्य किए गए हों—कि यदि उर्दूपन का बहिष्कार किया जायगा तो भाषा की व्यावहारिकता नष्ट हो जायगी और उसमें भाव-द्योतन का चमत्कार और बल न आ सकेगा। यह विचार राजा लक्ष्मणसिंह को ठीक न जँचा। अतः उन्होंने इसके विरोध में अपनी रचनाओं में भाषा का रूप पूर्ण शुद्ध ही रखा। ऐसा करके उन्होंने यह स्पष्ट दिखा दिया कि उर्दूपन से दूर रहकर भी भाव बड़ी सरलता से प्रकाशित किए जा सकते हैं, ऐसी अवस्था में भी चमत्कार उपस्थित किया जा सकता है, बिना उर्दूपन का सहारा लिए ही सुंदर से सुंदर रचनाएँ की जा सकती हैं।

इस द्वंद्व का निरीक्षण बाबू हरिश्चंद्र भली भाँति कर रहे थे। सोच-विचार करने के उपरांत उन्होंने मध्यम मार्ग के अवलंबन का निश्चय किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में भाषा का बड़ा व्यावहारिक रूप रखा। न उन्होंने उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार ही किया और न वे उर्दू-ए-मुअल्ला के पक्षपाती ही बने। जहाँ उन्होंने उर्दू के शब्दों का व्यवहार किया वहाँ उनका तद्भव रूप ही रखा। इस काल में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। हिंदी का व्यवहार-क्षेत्र अब

अधिक प्रचार होने लगा था। भारतेन्दुजी के अनेक सहयोगी तैयार हो गए थे। वे सभी दक्ष पत्र-संपादक और लेखक थे। इन लोगों के हाथों से भाषा का रूप बहुत कुछ परिमार्जित हो गया। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में भाव-व्यंजना की सुंदर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली का अनुसरण हुआ। इनकी शैलियों में चलतेपन और व्यावहारिकता का बड़ा ही आकर्षक सामंजस्य उपस्थित हुआ। पंडित बदरीनारायण चौधरी और पंडित गोविन्दनारायण मिश्र की लेखनी से इस प्रकार की रचनाएँ निकलीं जो इस बात की घोषणा करती थीं कि अब भाषा में किसी प्रकार केवल भाव प्रकाशन की ही शक्ति नहीं है वरन् उसमें आलंकारिक रूप से उत्कृष्ट रचना भी की जा सकती है। इस प्रकार के लेखकों में व्यावहारिकता अवश्य नष्ट हुई है, परन्तु भाषा का एक शक्तिशाली स्वरूप दिखाई पड़ा। इतना होते हुए भी सतर्क पाठक यह देख सकता है कि इस काल में भी व्याकरण की अवहेलना की गई। भाषा का मार्ग निश्चित तो हो गया, परन्तु उसमें सौष्ठव अभी तक न आ सका था। इस समय भी ऐसे लेखक उपस्थित थे जो विरामादिक चिह्नों का प्रयोग ही नहीं करते थे और इस कारण उनकी रचनाओं में व्यर्थ ही अस्पष्टता आ जाती थी। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाव-व्यंजना की कई शैलियाँ इस समय अवश्य गद्य-क्षेत्र में उपस्थित हुईं और उनमें एक शक्तिशाली रूप अवश्य दिखाई पड़ा, परन्तु भाषा का सम्यक् परिमार्जन न हो सका और व्याकरण-विहित शुद्ध रचनाएँ न की जा सकीं।

जो कमी इस समय रह गई थी उसकी पूर्ति आधुनिक काल में हुई। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखकों की सतर्कता एवं चेष्टा से व्याकरण-संबंधी त्रुटियों का सुधार हुआ। शब्दों का वास्तविक शुद्ध प्रयोग और व्यवहार इस काल की विशेषता है। इस समय अनेक विषयों पर सुंदर और पुष्ट रचनाएँ की गईं। यों तो भारतेंदु और …क ही काल में नाटक, उपन्यास, निबंध इत्यादि लिखने का

चुका था, परंतु इन विषयों के लेखन में न तो अनेक प्रकार की शैलियों का रूप ही निश्चित हुआ था और न भली भाँति उनमें सूक्ष्म मानसिक भावनाओं के प्रकाशन की प्रणाली का ही निर्वाह हुआ था। इस काल में इन विषयों पर विशेष ध्यान दिया गया। फल-स्वरूप शैली में भी भाव-द्योतन की मनोवैज्ञानिक शक्ति का संचार हो गया है। बाबू प्रेमचंद और बाबू जयशंकर प्रसाद की शैली में चरित्र-चित्रण की मनःशीलता और गम्भीर भावना इस बात की साक्षी है। क्रमशः जिस प्रकार विचार करने की शक्ति का विकास होता गया उसी प्रकार भाषा में भी भाव-व्यंजनात्मक शक्ति की उन्नति होती गई। आज जितने प्रकार की शैलियाँ उपस्थित हैं, उनसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि गूढ़ से गूढ़ भावनाओं के प्रकाशन में भाषा समर्थ है।

भाव और भाषा की तादात्म्य प्राप्ति शैली के उत्कर्ष की परम सीमा है। लेखक इस दिशा में भी अभ्यास कर रहे हैं। राय कृष्णदास की 'साधना' में इसी प्रकार के तादात्म्य का उन्मेष स्थान स्थान पर हुआ है। इनके 'सुधांशु' की अधिकांश कहानियाँ उक्त शैली के गोचर रूप प्रस्तुत करने में बहुत कुछ सफल हुई हैं।

घटनात्मक कथन की एक विशिष्ट प्रणाली का विचित्रतापूर्ण और व्यावहारिक रूप बाबू प्रेमचंद की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर भावात्मक तथा उन्मादपूर्ण भाव-व्यंजना का एक रूप-विशेष 'प्रसाद' जी की शैली में दिखाई पड़ता है। वाद-विवाद और तार्किक कथन का भावपूर्ण रूप भी इस काल में विशेषतः प्रयुक्त होने लगा है। इस प्रकार की शैलियाँ आज देखने में आ रही हैं जिनमें भावना के गुणों की प्रधानता रहती है। एक ही विषय को बार बार दुहराकर कहना और भाव-भंगी की एक विचित्रतापूर्ण और चमत्कारयुक्त शैली का अनुसरण इस युग में विशेष वृद्धि पा रहा है। यों तो इने गिने आलोचनात्मक लेख भारतेंदु हरिश्चंद्र ही के काल में लिखे जाने लगे थे, परंतु आधुनिक काल में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की विशेष चेष्टा

से इस विषय का अधिक प्रचार बढ़ा और क्रमशः इधर लोगों की प्रवृत्ति भी होने लगी। अन्ततः पंडित रामचंद्र शुक्ल जैसे गौरवपूर्ण आलोचना-लेखक का आविर्भाव हुआ। आलोचना का जो सौष्ठवपूर्ण गंभीर विवेचन शुक्लजी ने आरंभ किया है उससे विश्वास होता है कि शीघ्र ही आलोचना की यह चमत्कारपूर्ण, मनोवैज्ञानिक तथा तर्कना-युक्त शैली दृढ़ होकर एक विशेष रूप स्थिर करेगी।

अभी तक गंभीर तुलनात्मक आलोचना पर कोई ऐसा सुंदर ग्रंथ नहीं प्रकाशित हुआ जिसे आधार माना जा सके। इसके अतिरिक्त आज अनेक विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। इन विविध विषयों की शैलियों के विषय में अभी अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे परिपक्वावस्था को नहीं प्राप्त हुई हैं।

—

(१०) उपसंहार

तात्पर्य यह है कि क्या कला पक्ष और क्या भाव पक्ष दोनों में अभी पूर्ण परिपक्वता नहीं आई है, पर हिंदी दोनों की ओर दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रही है। सच बात तो यह है कि हिंदी भाषा और साहित्य का वर्तमान रूप बड़ा चमत्कारपूर्ण है। इसमें भावी उन्नति के बीज वर्तमान हैं जो समय पाकर अवश्य पल्लवित और पुष्पित होंगे। परिवर्तनकाल में जिन गुणों का सब बातों में होना स्वाभाविक है वे सब हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में स्पष्ट देख पड़ते हैं और काल का धर्म भी पूर्णतया प्रतिबिंबित हो रहा है। इस अवस्था में जीवन है, आश है, उत्साह है, उमंग है और सबसे बढ़कर बात यह है कि भविष्योन्नति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होने की शक्ति और कामना है। जिनमें ये गुण हैं वे अवश्य उन्नति करते हैं। हिंदी में ये गुण वर्तमान हैं और उसकी उन्नति अवश्यंभावी है। हिंदी और उसके साहित्य का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल और सुंदर देख पड़ता है। आदर तथा सम्मान के पात्र वे महानुभाव हैं जो अपनी कृतियों से इसके मार्ग के कंटकों और झाड़-झंखाड़ों को दूर कर उसे सुगम्य, प्रशस्त और सुरम्य बना रहे हैं।